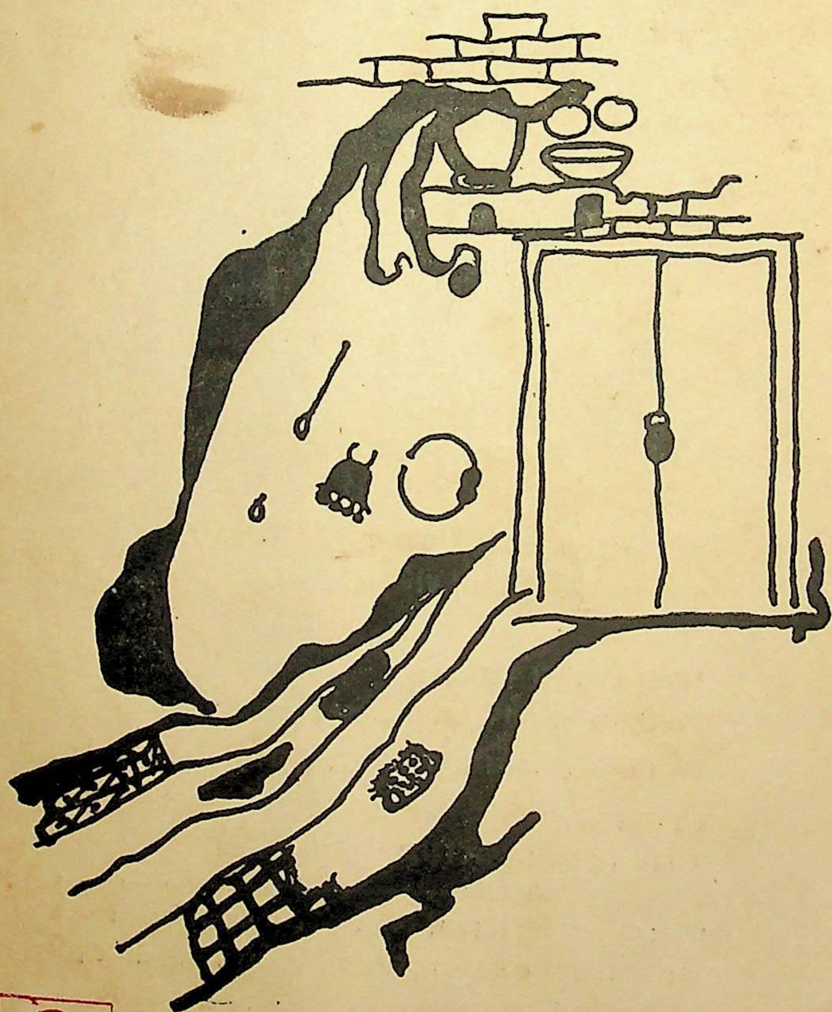
आयाम



2

सम्पादक : अरविन्द गुप्त

आयाम

साहित्य सृजन का अनियतकालिक

वर्ष—१९९३ : अंक—२

इस अंक में (पृष्ठ संख्या)

सम्पादक :
अरविन्द गुप्त

आवरण चित्र :
दीपक कुमार स्वामी

सहयोग राशि :
एक प्रति ८/- आठ रुपये
चार अंक ३०/- तीस रुपये

सम्पर्क :
१४, शिवगंज, डिहरी-ऑन-सोन ८२१३०७ ☐ संपादन-संचालक अवैतनिक



आपके पत्र

'आयाम' के प्रवेशांक की प्रति के लिए आभारी हूँ। अपेक्षाकृत छोटी जगह से एक बड़े काम की दिशा में आपकी पहलकदमी का स्वागत है। तीनों ही कहानियाँ महत्वपूर्ण हैं। श्राद्धोत्सव (जगदीश), शह और मात (हरिहर प्रसाद) और मोनालिसा का सपना (अरविन्द गुप्त) रूढ़ और जड़ीभूत संस्कार चेतना के विरुद्ध नयी प्रगतिशील भावधारा की पीड़ा से भरी हुई लड़ाई का साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं। मुझे शैलिपक कसाव की कमी जरूर तीनों में लगी किन्तु आज के संश्लिष्ट नवीन-यथार्थ की तहों में घुसने की चेष्टा तीनों में दिखी। भाई रामनिहाल गुंजन की टिप्पणी—'हिन्दी के नये कथा पात्र' आज के कथा चिंतन में कुछ नया जोड़ती है। उम्मीद है कि गुंजन जी इस दिशा में कुछ और खुलकर विवेचित करेंगे।

□ ध्रुवदेव मिश्र पाषाण, हावड़ा

'आयाम' का अंक मिला। डेहरी जैसी छोटी जगह से इतनी अच्छी प्रस्तुति आप ही द्वारा संभव थी। जगदीश की कहानी 'श्राद्धोत्सव' बेहद अच्छी कहानी है। पिछले दिनों पूर्वी यूरोप और सोवियत संघ में मार्क्सवादी सरकारों का जो पतन हुआ उसके पार्श्व में रखकर कहानी और भी अच्छी लगती है। हल्का-सा लाउड अप्रोच है। वह न रहता तो यह कहानी और खूब होती। आपकी कहानी 'मोनालिसा का सपना'। इसे तो आप थोड़ा और बढ़ा कर उपन्यास का रूप दे सकते थे। दरअसल यह कहानी उपन्यास के तकनीक को ही लिए हुए है। है सचमुच मार्मिक। लिखा भी है आपने डूबकर। इसका शीर्षक मुझे पसन्द नहीं आया। इसके लिए मैंने शीर्षक चुना है—'नन्हा खरगोश'। इसे फिलमाया जाय तो मार्मिक फिल्म होगी। रामनिहाल गुंजन का लेख बहुत सामान्य है। वह कोई मौलिक चीज दे नहीं पाते। हिन्दी कहानी के नये पात्रों पर लिखने के लिए एक सम्यक चिंतन चाहिए। यह चिंतन है ही नहीं। इसमें न विश्लेषण है न संश्लेषण। है जोड़-तोड़। हरिहर जी की कहानी नहीं पढ़ी। 'आयाम' के लिए मेरी बधाई स्वीकारें। इसे जारी रखें।

□ प्रेमकुमार मणि, सासाराम

'आयाम' के द्वारा तुमने जिन्दगी के विविध आयामों को समेटने का प्रयास किया है—यानी जीवन को संपूर्णता में देखने का। एप्रोच अच्छी है। इस अंक

की तीनों कहानियाँ तीन रंगों की हैं और उन्हें पढ़ना नये-नये अनुभवों के बीच से गुजरने जैसा है। तुम्हारी कहानी 'मोनालिसा का सपना' तुम्हारी पिछली कहानियों से अलग लगी। यह तुम्हारे अनुभव-विस्तार को रेखांकित करती है। भाई रामनिहाल गुंजन का लेख 'हिन्दी के नये कथा-पात्र' एक नये विषय की प्रस्तावना है। इसे आगे बढ़ाना चाहिए—थोड़े विस्तार से।

□ विजेन्द्र अनिल, बगेन, बक्सर

एक बहुत अच्छी साहित्यिक पत्रिका के लिए मेरी बधाई स्वीकार करें। मेरी प्रसन्नता का एक कारण यह भी है कि 'आयाम' कहानी की पत्रिका है। कारण यह भी हो शायद कि आप स्वयं एक अच्छे कथाकार हैं। स्तरीय कहानियों का चयन आपने किया है। तदनुरूप कहानी पर एक समीक्षात्मक लेख भी दिया है। इन सबसे स्पष्ट होता है कि आपके पास एक अच्छी टीम है और इस टीम का उपयोग सही दिशा की ओर करने में आप सक्षम हैं।

□ वासुदेव, राँची

'आयाम' का प्रवेशांक पूरा पढ़ गया। अंक की तीनों कहानियाँ अपने विषयों के ट्रीटमेंट को लेकर काफी ठीक-ठाक हैं। अगले अंक का बेहतर संयोजन हो सके, इसके प्रति सतर्क रहना होगा।

□ रामनिहाल गुंजन, आरा

'आयाम' का पहला अंक मिला। सर्वप्रथम संपादकीय पढ़ गया। तत्पश्चात् सर्व श्री जगदीश, हरिहर प्रसाद और आपकी कहानी। सब मिलाकर अंक ठीक है। रामनिहाल गुंजन का आलेख भी ठीक है। सब मिलाकर आपका प्रयास प्रशंसनीय है। हमारी हार्दिक बधाई स्वीकार करें। संपादकीय में आपने जिस मुद्दे को पाठकों के समक्ष रखा है, वह विचारणीय है। इससे धुंध छंटेगी और प्रतिभा की पहचान होगी। 'आयाम' के लिए मैं सदैव आपके साथ हूँ।

□ जितेन्द्र राठौर, पटना

'आयाम' के प्रकाशन पर मेरी बधाई और शुभकामना! आपकी और हरिहर जी की कहानियाँ बहुत दिनों बाद पढ़कर प्रसन्नता हुई। जीवन के नये पक्ष सामने आये। जगदीश जी की कहानी भी पढ़ी। पत्रिका निरंतर समृद्ध हो।

□ अरुण कमल, पटना

'आयाम' का अंक–१ मिला। बधाई। इस अंक की तीनों कहानियाँ अपने कथ्य और परिवेश की अच्छी कहानियाँ हैं। फिर भी श्री जगदीश की कहानी में आज के यूनियनों में घुस आई भ्रष्ट राजनीति की अच्छी खबर ली गयी है। हरिहर जी की कहानी 'शह और मात' आज की ज्वलंत समस्या सांप्रदायिकता

पर केंद्रित कर लिखी गयी है । त्वरित घटना चक्रों और नियत अंत के चलते कहानी मजा नहीं दे पाती । रामनिहाल गुंजन का लेख 'हिन्दी के नये कथा-पात्र' बहस की गुंजाइश रखता है ।

□ कृष्णानन्द कृष्ण, पटना

एक जमाने के बाद आपका भेजा हुआ कुछ मिला—पत्र नहीं पत्रिका । जो आपने सिर्फ मेरे लिए नहीं, सबके लिए निकाली है । आप डिहरी-ऑन-सोन में अकेले अपने बूते पर रहकर, अपने पैसे लगाकर, इतनी भाग-दौड़कर 'आयाम' निकाल रहे हैं—इससे आपके अन्दर पत्रिका निकालने की जो दृढ़ इच्छा है, उसका पता चलता है । लेकिन मैं कभी-कभी सोचता हूँ कि क्या छोटी पत्रिकाओं को अलग-अलग निकालने और उनकी अकाल मृत्यु होने की जगह बहुत-से साधनों को एक जगह जुटाकर एक पत्रिका संयुक्तरूप से नहीं निकाली जा सकती ? इस दिशा में कोई प्रयास क्यों नहीं किया जाता ?

□ वीर भारत तलवार, नई दिल्ली

'आयाम' का प्रवेशांक मिला । बहुत-बहुत बधाई । सृजनशील साहित्य की शिखा को जलाए रखने की चुनौती सामने है । आपने यह चुनौती स्वीकार की, हमारे लिए यह उत्साह और खुशी की बात है । मैं इसके लिए रचनात्मक सहयोग करता रहूँगा ।

□ अवधेश प्रधान, वाराणसी

'आयाम' का प्रवेशांक मिला । धन्यवाद । अच्छी सामग्री और साफ प्रस्तुति के लिए बधाई । आशा है, 'आयाम' और मजबूत रचनाओं के साथ आगे भी निकलता रहेगा ।

□ शम्भु बादल, हजारीबाग

छोटी काया में पत्रिका साफ-सुथरी है । मगर मुझे इससे कहीं ज्यादा उम्मीद थी । संभव है, आगे के अंकों में मेरी आकांक्षा फलीभूत हो । छोटी साहित्यिक पत्रिका का कम से कम वैचारिक पक्ष प्रखर होना चाहिए । इसमें इस बात की मुझे कमी लगी । वैसे आपका संपादकीय सटीक है ।

□ राणा प्रताप, पटना

'आयाम' का प्रवेशांक हाथ लगा । 'मोनालिसा का सपना' और 'श्राद्धोत्सव' कहानियाँ अच्छी लगीं । 'मोनालिसा का सपना' में भाषा और तत्सम्बन्धी क्षेत्र के समन्वय के साथ-साथ मानवीय सम्बन्धों में 'कटुता' और 'मिठास' की मात्रा का आवंटन काफी सुखद रहा । कविताएँ नहीं जमीं । कृपया स्तम्भों को क्रम दें ।

□ श्री प्रकाश पाण्डेय, गोन्डा

यह अंक मुझे प्रभावित नहीं कर सका और यह भी कि इस रूप में यानी इस कंटेंट के साथ आज पत्रिका निकालने का क्या अर्थ है। कहानी पत्रिका की आज जरूरत तो है—जरूरत को ध्यान में रखकर ही अगला अंक निकालें तो ठीक है।

☐ अनिल सिन्हा, लखनऊ

गुंजन जी से नये कथापात्रों की पहचान का सिलसिला निरंतरता में जारी करायें तो कथा-आलोचना वस्तुवादी जड़ों की ओर लौट सकेगी। 'आयाम' पढ़ रहा हूँ।

☐ विजयकांत, मुजफ्फरपुर

'आयाम' की तीन मात्र कहानियों में 'मोनालिसा का सपना' श्रेष्ठ कहानी लगी। 'श्राद्धोत्सव' कुछ पुरानी कथावस्तु में लिथड़ी-सी प्रतीत हुई। मनोज कुमार झा की कविता 'घास' अच्छी लगी। नये रचनाकारों, लेखकों, कहानीकारों को प्रधानता देने की उक्ति सुखद है।

☐ राजीव 'शलभ', दिल्ली

'आयाम' का अंक—१ मिला। कृतज्ञ हूँ। मुझे शुद्ध साहित्यिक वाद-विवाद-संवादों में उतनी उत्कण्ठा नहीं। आगामी अंकों में सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक पक्षों को भी छुएँ तो पत्रिका अधिक प्राणवान् बनेगी—कुछ ऐसा लगता है। शुभ-कामनाएँ।

☐ श्रीलाल शुक्ल, लखनऊ

'आयाम' बाकायदा पढ़ने को मिला। बधाई। प्रवेशांक के सभी आलेख स्तरीय एवं पठनीय हैं। आज के दौर से प्रायः पर्याप्त जुड़े भी। कहानियाँ ज्यादा हो गई हैं पर चुस्त हैं। अगले अंकों तक आयाम में विविधता की कोशिश की जायेगी—ऐसी आशा रखता हूँ और नियमितता भी की जायेगी।

☐ शैलेन्द्र, वाराणसी

'आयाम' के प्रकाशन पर बधाई। आज के इस महँगाई के जमाने में पत्रिका निकाल लेना अत्यन्त दुष्कर कार्य है।

☐ आलोक वर्मा, कलकत्ता

भाई रामनिहाल गुंजन जी के माध्यम से 'आयाम' की प्रति मिली। सरसरी निगाह से देखने पर पत्रिका अच्छी लग रही है, प्रस्तुति और सम्पादन दोनों स्तरों पर। मेरी हार्दिक बधाई स्वीकारें।

☐ नचिकेता, पटना

'आयाम' का प्रवेशांक। सुरुचिपूर्ण सम्पादन के लिए हार्दिक बधाई। आपकी

कहानी 'मोनालिसा का सपना' बहुत गहराई तक उतर गयी। बहुत देर तक पीछा करती रही। मानव मन की सूक्ष्म पकड़ है आपमें।....फिलहाल मेरे पास कोई अप्रकाशित कहानी नहीं है। नयी लिखने पर सर्वप्रथम 'आयाम' को ही भेजूँगा।

□ माधव नागदा, राजसमंद, राजस्थान

'आयाम' का प्रवेशांक। सभी रचनाएँ अच्छी हैं। खासकर आपके संपादकीय में जो बातें कही गयी हैं वह ठीक हैं। जो समस्यायें आपने हिन्दी साहित्य की बताई हैं, वैसी ही हमारे यहाँ पंजाबी साहित्य में भी हैं।

□ परगट सिंह सिद्धू, सेखा, धूरी, संगरूर, पंजाब

'आयाम' का प्रवेशांक। सभी कहानियाँ पढ़ने के बाद मैं आपको अपनी राय लिखूँगा—अगर आप आज्ञा दें तो मैं इनमें से किसी कहानी का अनुवाद करना चाहूँगा। अपनी कुछ कविताएँ भी भिजवाऊँगा।

□ अमरजीत कौंके, प्रताप नगर, लुधियाना

साहित्य सृजन का अनियतकालिक 'आयाम' का प्रवेशांक रेलवे स्टाल से लाकर पूरी की पूरी पढ़ डाली। नैतिक पतन, साम्प्रदायिकता और विश्वासघात, सामाजिक प्रदूषण के मुख्यं तत्वों पर लिखी गयी कहानियाँ पाठक के अंतःकरण को झकझोरने वाली हैं, साथ ही पाठकों को इन सामाजिक विसंगतियों के विरूद्ध जोरदार आवाज उठाने को बाध्य करती हुई प्रतीत होती हैं। जगदीश, हरिहर प्रसाद और आपकी—तीनों कहानियाँ बड़ी ही अच्छी हैं। गुंजन जी का लेख भी अच्छा बन पड़ा है। प्रेमचन्द, प्रेमचन्दोत्तर और यहाँ तक कि आज के कहानीकारों के पात्रों के संदर्भ में हिन्दी कथा के नये पात्रों के विकास पर पूरा प्रकाश डाला गया है। 'आयाम' लघु प्रत्रिकाओं की लम्बी फेहरिस्त के बीच अपनी महत्वपूर्ण उपलब्धि का बोध करावे, यही शुभकामना है।

□ कुसुम मणि त्रिपाठी, ईस्ट कालोनी, जमालपुर

पत्रिका में प्रकाशित तीनों कहानियाँ व आलेख व पत्रिका की सादगी अच्छी लगी। इसे मजदूर वर्ग व सामान्य मिहनतकश में लोकप्रिय बना रहे होंगे, यही जरूरी है। मेरी शुभकामनाएँ स्वीकार करें।

□ डॉ० चमनलाल, पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला

आपका प्रयास प्रशंसनीय है। संकलन पठनीय और संग्रहणीय बन पड़ा है। मैं उम्मीद करता हूँ कि 'आयाम' आपके संपादन में नये-नये आयाम स्थापित करेगा।

□ हबीब कैफी, जोधपुर, राजस्थान

लघु पत्रिकाएं साहित्य को अनुप्राणित करने के लिए जो सतत संघर्ष कर रही हैं उसमें 'आयाम' जैसी नई पत्रिका का जुड़ जाना इस आन्दोलन को और भी प्रखर करेगा। मेरी शुभकामनाएँ।

□ अमरीक सिंह दीप, कानपुर

अपनी बात

इस देश में दो समानान्तर विचारधारायें शुरू से ही रही हैं—एक भाववादी और दूसरी भौतिकवादी। आर्यों ने यहाँ आदिम साम्यवाद की स्थापना की थी—उस समय वर्ण नहीं थे। युद्ध में आर्य लोग जीतते गये और पराजित अनार्यों को दास बना डाला। कृषि-व्यवस्था उन्नत हुई और दास-प्रथा स्थापित हुई। जमीन पर व्यक्तिगत अधिकार स्थापित होने लगे और निजी संपत्ति पैदा हुई। ब्राह्मण साहित्य की रचना हुई। इसके विरोधस्वरूप वृहस्पति द्वारा पहला भौतिकवादी दर्शन आया। फिर चार्वाक दर्शन आया। जीवन को उसकी संपूर्णता में भोगने का यह एक दर्शन था। फिर उपनिषद् आये। इनमें भी दो विचार-धाराओं का प्रतिपादन था।

महाभारत की लड़ाई दो वर्गों—अभिजात और गरीब आर्यों के बीच की लड़ाई थी। इसके बाद स्वतंत्र किसान और कामगार उभरे। इसी युग में कपिल, कणाद, गौतम, महावीर जैसे यांत्रिक भौतिकवादी हुए और बुद्ध, नागसेन, वस्तुमित्र, यशोमित्र, कुमार लब्ध की तरह द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी भी। आयुर्वेद, रसायन, गणित, ज्योतिर्विद्या आदि के क्षेत्र में भारत की उन्नति भौतिकवादी संस्कृति की देन है। यानी प्राचीन भारत की उन्नति का मूल भौतिकवादी विचारधारा थी न कि भाववादी। आज हिन्दू सभ्यता और संस्कृति के नाम पर जो पेश किया जाता है वह गुप्तकालीन और परवर्ती ब्राह्मणों द्वारा खींचा गया अतीत का विकृत चित्र है। भारत की द्वन्द्वात्मक विचारधारा को चीन, लंका, बर्मा और एशिया के अनेक देशों ने स्वीकारा। अब आज यह सवाल उठता है कि हम दर्शन, विचारधारा और साहित्य के क्षेत्र में इतने दरिद्र कैसे हो गये? विश्वबंधुत्व की बात कहाँ गयी? 'मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना' की बात आज उल्टी क्यों हो गयी? मजहब आज घृणा का पर्याय क्यों बन गया? आज जो धर्म के नाम पर लड़ाई लड़ी जा रही है उसका सिर्फ राजनीतिक मकसद है। यह सत्ताधारी वर्गों की ही चाल है, मिलीभगत है ताकि जनता शोषक वर्गों को पहचान नहीं सके, आपस में लड़ती रहे और व्यवस्था के खिलाफ निर्णायक लड़ाई नहीं लड़ सके। प्रतिक्रियावादी, सांप्रदायिक ताकतें देश में दंगे करवाकर अपना उल्लू सीधा करने में लगी हैं। पूंजीवादी, साम्राज्यवादी ताकतें अपना घिनौना खेल इस देश को तबाह करके खेल रही हैं। सामन्ती जुल्म आदिम बर्बर युग की याद दिलाते हैं। (मर्यादा पुरुषोत्तम तुम कहाँ हो?) ऐसे माहौल में साहित्य और साहित्यकारों का दायित्व बढ़ जाता है। जनता, समाज और जीवन के दुखदर्दों की अभिव्यक्ति एक तरफ है और भ्रमजाल, मायाजाल, सस्ता मनोरंजन, भाववाद, रहस्यवाद, नियतिवाद दूसरी तरफ हैं। एक जिम्मेवार प्रतिबद्ध लेखक / रचनाकार सिर्फ दुखदर्दों की अभिव्यक्ति ही नहीं करता बल्कि उनसे निजात पाने के लिए संघर्षों की ओर संकेत भी करता है—सही दुश्मन की पहचान भी कराता है। सार्थक रचना वही हो सकती है जिसमें एक तरफ

पतनशील, मानवविरोधी, प्रतिक्रियावादी मूल्यों को ध्वस्त किया जाता है और दूसरी तरफ नये प्रगतिमूलक, मानवमूल्यों की स्थापना होती है। ऐसे ही उर्वर, सृजनशील, रचनाओं की तलाश होनी चाहिए। इस दिशा में हमारा प्रयास जारी है। लेकिन हमारे साधन सीमित हैं। सहयोग की कमी है। इंफ्रास्ट्रक्टर विकसित नहीं हो पाया है। हमारे पास कोई बड़बोलापन नहीं है। हम धुँआधार प्रचार-प्रसार, संबंध-विस्तार-निर्वाह नहीं कर पाते। और कई कारणों से बहुत सारे लोग सहयोग नहीं करते। जातिवाद, ठकुरसोहाती, मठाधीशवाद, भाई-भतीजावाद, पैरवीवाद, पादुकापूजनवाद आदि-आदि अनेक विकृत मानसिकताएँ साहित्य में आ गयी हैं और दहाड़ रही हैं।

बचपन में हमें बताया गया था कि बाजार यदि गोश्त लाने जाओ तो मुहर लगा ही लाओ। लेकिन नगरपालिका की मुहर लगा गोश्त जब भी घर में आया, दिन-दिनभर चूल्हे पर चढ़े रहने पर भी नहीं पक पाया। वही हाल आज साहित्य के बाजार में रचनाओं का है। साहित्य के निरीक्षकों की मुहर लगी रचनाएँ धड़ल्ले से छप रही हैं, बिक रही हैं, पुरस्कार पा रही हैं। लेकिन साहित्य बेचारे का उनसे कितना भला हो पा रहा है कहना मुश्किल है। कभी कविता के मरने की घोषणा कर दी जाती है। कभी आधुनिकतावाद चल पड़ता है तो कभी उत्तर आधुनिकतावाद जोर पकड़ने लगता है। एक समीक्षक ने तो कहानी विधा को ही पूँजीवादी विधा घोषित कर दिया। यानी साहित्य में रहना है तो फतवेबाजी करते रहो नहीं तो उठाकर फेंक दिए जाओगे, गुरुजी का चरण स्पर्श करते रहो तो मेजर बनोगे नहीं तो माइनर बनकर लोकलाइज्ड हो जाओगे। इसको उठाना है, उसको बैठाना है, उसको आईना बनाना है—ये सब तो समीक्षकों के बायें हाथ का खेल है।

पिछले अंक में हमने कुछ प्रश्न उठाये थे। कुछ मित्रों ने सराहना की है, कुछ ने सहयोग दिया है, कुछ ने वायदे किये हैं। जबकि उन्हीं बातों के चलते कुछ लोगों ने 'आयाम' को उठाकर पटक दिया, फेंक दिया, नाक-भौं सिकोड़ने लगे। जाहिर है बातें कड़वी लगीं, नागवार गुजरीं। पिछले अंक की छपाई स्थानीय थी, उसकी सीमायें थीं। लेकिन कुछ महानुभावों ने सिर्फ छपाई की सीमा को ही मुख्य मानकर प्रहार किया है / आलोचना की है और नेक / आत्मीय सुझाव दिये हैं। रचनाओं पर उनकी नजर ही नहीं पड़ी या फिर रचनायें उनकी दृष्टि से गायब हो गयीं। कुछ मित्रों ने कंटेंट की बात की है। किसी भी पत्रिका में प्रकाशित विभिन्न रचनाओं के कंटेंट एक नहीं हो सकते। होना भी नहीं चाहिए। और फिर पत्रिका का कंटेंट तो रचनाएँ ही होती हैं।

मुझे एक बार मद्रास यात्रा के दौरान एक बहुत बड़े गणितज्ञ से मुलाकात हुई। ऊपर एक मामूली खादी की सिली हुई गंजी और नीचे एक मामूली लूंगी पहने हुए थे वे। पैरों में थे घिसे हुए हवाई चप्पल। उन्होंने बताया कि किस तरह कुछ सूत्रों के माध्यम से गणित के बड़े-बड़े सवाल हल हो जाते हैं। कृषि विज्ञान, भौतिकी, रसायन और अनेक विज्ञानों के संबंध में उनसे बातें होती रहीं और इसी क्रम में उन्होंने बताया कि सैकड़ों किलो कागज पर उनके शोध की सामग्री बिखरी हुई है। फिर उन्होंने कुछ सामग्री दी जिसे काशी हिन्दू

विश्वविद्यालय के कृषि विज्ञान विभाग के अध्यक्ष को दिखलाना था और उसके उपयोग के बारे में बात करनी थी। मेरे पास ऐसे भी लोग आते हैं जिनकी वेश-भूषा काफी मँहगी होती है लेकिन विद्वता का उनका कोई स्तर नहीं होता। कुछ नेक सलाह देने वाले मित्र कह-पूछ सकते हैं—अच्छी वेशभूषा नहीं तो इतना बड़ा गणितज्ञ/दार्शनिक/वैज्ञानिक (और शायद साहित्यकार भी) कोई कैसे हो सकता है?

और हुआ भी यही। एक मित्र ने झुंझलाकर कहा—अरे छोड़ो, होगा कोई धुर। खाने का ठिकाना नहीं होगा। तुमसे कुछ ऐंठना चाहता होगा।....अच्छा बताओ तुम्हारे पास यह जो डब्बा है उसमें क्या है?....कोई खाने-वाने की चीज?

मैंने कहा—हाँ, खाओगे?....एक जोड़ी चप्पल? वह सकपका गया। बाद में उसकी बात पर मैं गौर करने लगा। इस बात में सच्चाई तो जरूर है कि इस देश में गणितज्ञ / दार्शनिक / वैज्ञानिक / साहित्यकार के पास खाने का ठिकाना नहीं। साधनों की कमी है। लोग मारे-मारे फिरते हैं। कोई पूछता नहीं।

नहीं तो क्या कारण है कि वशिष्ट नारायण जैसे गणितज्ञ जब तक अमेरिका में रहते हैं—गणित में अपना योगदान देते रहते हैं लेकिन भारत आने पर इतनी उपेक्षा होती है कि पागल होकर मरना पड़ता है? यहाँ निराला, मुक्तिबोध उपेक्षित-विक्षिप्त होकर मरते हैं तो सुकान्त, सुब्बाराव, सरोजदत्त को मार डाला जाता है। गोरख पाण्डेय इसी माहौल में आत्महत्या कर लेते हैं। यही इस देश और इस देश के साहित्य का हाल है।

मुझे पता चला कि कुछ बुक स्टाल और दुकानों पर 'आयाम' रखने और बेचने के लिए मना किया गया। कुछ जगहों पर ग्राहक बनने से रोका गया। कुछ लोगों ने रचना देने / दिलाने से इन्कार किया तो कुछ लोगों ने देने वालों को मना किया। बहुत सारे ऐसे बड़े साहित्यकार / समीक्षक / लेखक हैं जिन्हें पत्रिका तो मिली लेकिन उन्होंने पढ़ा ही नहीं या फिर पढ़ने के बाद कुछ प्रतिक्रिया नहीं दी। ऐसे माहौल में हतोत्साहित होने की सारी सँभावनाएँ मौजूद हैं। बावजूद इसके दूसरा अंक आपके सामने है। हम उनके आभारी हैं जो 'आयाम' के प्रकाशन / प्रचार / प्रसार में सहयोग दे रहे हैं और इसे आगे बढ़ाने में मदद दे रहे हैं। इस बीच जन कवि कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह हमारे बीच नहीं रहे।....हमारी श्रद्धाञ्जलि।

—**अरविन्द गुप्त**

कहानी

सागोरी मण्डल अभी जिंदा है

□ पलाश विश्वास

'सागोरी !'

'सागोरी मंडल !'

'अच्छा ! वही सागोरी' ...

ताज्जुब की बात है न ? यहाँ रुद्रपुर में भी सागोरी मंडल को काम नहीं मिल रहा। पति परितोष बीमार रहने लगे हैं आजकल। बुखार रहता है हरवक्त। खाँसी भी है। वही सीने की तकलीफ। टी० वी०....इलाज चल रहा है। दवाएँ बहुत मँहगी हैं। पहले पद्मिनी पंत ले गयी थीं डाक्टर के पास। श्रीलेखा दीदी भी कई दफा कह चुकी हैं। वह कालेज में हिन्दी की लेक्चरार हैं। पति इतिहास में रीडर। प्रकांड विद्वान ! पद्मिनी दीदी ने पार्टी से इस्तीफा दे दिया। ये कहते हैं कि वह महतोष आन्दोलन के बाद बदल गई। इंका नेताओं की तरह पुलिस, प्रशासन और सरकार से कामकाज करवाने के लिए जनता के बीच बिचौलिये का काम कर रही थी। पार्टी में जमकर आलोचना हो रही थी। निकाली जाती इससे पहले खुद बाइज्जत बाहर हो गयी....दीदी कुछ नहीं कहतीं। उनके नजदीकी लोग बताते हैं दीदी का पार्टी से मोहभंग हो गया। संघमित्रा सरकार अब तराई में महिला संगठन के काम देख रही है। महतोष आन्दोलन के जरिये पद्मिनी दीदी, श्रीलेखा, संघमित्रा, शरणार्थी बाबा, रिंची बाबू, कुमुदिनी, वृन्दा, काना सभापति, लँगड़ा बहादुर, डॉ० मदन, इंद्रकांत, देवव्रत जोशी,....कितने सारे नाम हैं....साथ मिलकर तराई और उत्तराखंड की मेहनतकश महिलाओं की नवजागृति का संघर्ष जी रहे थे। नये शरीर, नई आत्मा लेकर जैसे बलात्कार पीड़ित सागोरी मंडल का पुनर्जन्म हुआ। अपनी ही काया में धू-धू श्मशान के मानिन्द जलकर राख हो गयी वह ! नारी की चिर-शाश्वत अस्मिता में नवदुर्गा की तरह शक्ति, मातृ, विद्या, बुद्धि, धरती के रूप में अवतरित हो गयी वह !....

किन्तु हठात् सब कुछ समाप्त। महतोष आन्दोलन की सबसे बड़ी नेता पद्मिनी पंत पार्टी बाहर। देवव्रत जोशी आम चुनाव में पार्टी की जिला में तीसरी ताकत बन जाने के दम्भ के बावजूद कुल जमा पाँच हजार वोट पाकर

हताश । वह आग ही बुझ गयी । लड़ाकू दस्ते का हीरो विद्रोही बिन्दुखन्ना में पूरे एक दशक के जनसंघर्ष के बाद साथियों समेत विवादों के घेरे में । और संसद और विधान सभा में पहुँचने के बाद पार्टी नेताओं के मंद पड़ गये क्रांति स्वर....कुंद हो गये तेवर....

संघमित्रा, कांता, रजनी, प्रमिला....कोई होलटाइमर है, तो कोई स्थापित गृहस्थी की बहन, बहू, बेटी....उन्हें कोई संकट नहीं दिखाई देता । दिग्गज पति के प्रचंड व्यक्तित्व से जिनका कद कतई नहीं घटा, वह श्रीलेखा हर्षवर्द्धन भी निराश हैं । मगर अपनी निराशा को सकारात्मकता में बदलने की क्षमता उनमें है....।

इनमें से किसी को सही मायने में सागोरी मंडल और उस जैसी हतदरिद्र-सर्वहारा औरतों का ख्याल नहीं । इनकी व्यथा-कथा महतोष आन्दोलन के जरिये राष्ट्रीय दृश्यपटल पर उभारकर चर्चित हुए तमाम चेहरे भी किसी रिंची बाबू की तरह कम धूर्त, काना सभापति व लंगड़े बहादुर से कम पाजी, शरणार्थी बाबा से कम मजबूर नहीं हैं । कभी-कभी तो लगता है कि महतोष कांड के बलात्कारी दरिंदों, ए० डी० एम० नीतापुरी, दरोगा सुरभिलाल, ब्लाक प्रमुख अशर्फी और सत्तागठबंधन की नीचता की हद तक की अमानुषिकता सागोरी जैसी के लिए मौजूदा समाज व्यवस्था में कहीं बड़ी सुरक्षा की गारन्टी है....

मगर सागोरी मंडल नारी की चिरंतन मर्यादापूर्ण अस्मिता के लिए सुरक्षा व निश्चिंतता का दायरा तोड़कर अपनी सीमाओं को चकनाचूर कर बाहर निकले पहली बार....अखबारों में छपनेवाले सब उजले नाम मिट गये । लड़ते-लड़ते थक हारकर पुरानी जीवनयात्रा में मर-खप जानेवालियों में मगर सागोरी शामिल नहीं है....

पति के राजरोग के कारण अब गृहस्थी का सारा बोझ उसी पर । कोकिला से छोटे तीन बच्चे । दस साल की माया, जिसकी शादी की चिंता अभी से सता रही है, आठ साल की जामिनी और सबसे छोटा चार साल का फैलानो....दस रोज इधर, दस रोज उधर सभी कामकाज में जुत गये हैं । चौका बर्तन से लेकर घरेलू नौकर और मोटरगैराज की हेल्परी तक । माया और जामिनी गाँव के स्कूल में आने जाने लगी थीं । मगर गाँव छोड़ने के बाद रुद्रपुर पहुँचते न पहुँचते सबकुछ गड़बड़ा गया....श्रीलेखा दीदी बोलीं भी । मेरे यहाँ भेज दिया कर । अहसान नहीं कर रही । कामकाज के बहाने थोड़ा-बहुत पढ़ लिख लेगी । यह सिलसिला चला भी कुछ दिन । मगर दीदी की मदद वाला हाथ सागोरी को आहिस्ते-आहिस्ते अनातमीय महसूस होने लगा....छि: छि: ऐसा करेगी सागोरी ?

एक ये ही तो सहारा हैं ! और लड़कियाँ दूसरी जगह आने जाने लगीं । श्रीलेखा दीदी ने सावधान भी किया, दरिन्दे औरत शरीर की उम्र नहीं देखते । हवस के मारे माँ का दूध भी भूल जाते हैं ये कमीने कुत्ते....सागोरी भी कहती, 'चारिदिके पाठार दल सब ओतपाती आछे। पाक पालि छाड़वेना ! किन्तु दीदी आमार उपाय तो नाई ओदेर घर के वेरुति होवे । आपनार बाड़ीर बाइरेर दुनियाटाओं तो देखती होवि ।'

श्रीलेखा दीदी इस पर निरुत्तर हो जाती । सही तो कह रही है ! मेहनतकश औरतों की जमात में पैदा हुई बच्चियों की दरिंदगी के मुकाबले के लिए परिस्थितियों के मुकाबले लड़े जा रहे कभी न खत्म होने वाले जंग में शामिल होना अपने मासूम नाखूनों को, दूध के अभाव से कमजोर दाँतों को, निर्बल बाजुओं और समूचे रक्तहीन शरीर को तेज प्रहारक हथियारों को तबदील तो आखिर करना ही है ! अपना सुरक्षित स्थान छोड़कर कितनी श्रीलेखाएँ उन्हें आँचल में छुपाये कब तक डोलती रहेंगी । अंततः जंगली शेर की गुफाओं से भी ज्यादा खतरनाक तराई के बड़े फार्मों, रिहायशी गाँवों और खटीमा-पानी पथ मार्ग की झोपड़पट्टियों में उन्हें जिंदगी गुजर बसर करनी है । मजदूरी की आग में तन-मन झोंककर खेतों, खलिहानों, मिलों, कारखानों और घरों की पालतू बनकर व्यतीत हो जाना है ! एक मजबूरी और है । बच्चों को काम मिलना फिर भी आसान ।

सागोरी को देखते-सुनते महतोष की बात का पता चलते ही शहर की मालकिनें घिन से तिड़बिड़ करती हुई सवाल दागतीं 'महतोष में सचमुच बलात्कार हुआ था ? वहाँ तो औरतें खुद बिकने को तैयार रहती हैं । हैं न ?'

बाएँ पैर से जोरदार लात मारने को तैयार टाँगें आसमान की ओर लपकने को होतीं तो सागोरी सिर्फ जवाब में इतना कहती, 'घर में रंडीखाना चलाने वालों से तो हम सड़क वाले बहुत बेहतर....।'

काम मिलना तो बहुत दूर....अक्सर झगड़ा हो जाता मुहल्ले भर की औरतें उसके साथ मारपीट को उतारू हो जातीं । नगरपालिका के नेताओं से कहकर अब शहर से निकालें कि तब....लँगड़ा बहादुर शुरू से नाराज भी है, मगर चूंकि पार्टी तराई में अब भी मजबूत है । इसलिए महतोष की इस चरित्रहीन नेता और उसके बदतमीज परिवार को लोग झेल लेते हैं । मगर पार्टी उन्हें काम देने के लिए मजबूर नहीं कर सकती । पार्टी वाली उनके जान पहचान वालों के यहाँ कब तक अहसान का बोझ ढोती फिरेगी सागोरी ।

कई बार उसकी झोंपड़ी पर हमले की वारदातें भी हुईं । आस-पास के मजदूरों ने आगे बढ़कर रक्षा की । धमकियाँ मिलीं, 'देख लेंगे ।' ऐसे में हर

बार संघमित्रा सरकार को स्थिति से निपटने का इंतजाम करना पड़ता। हमलावरों को पुलिस भी आगाह करती, 'महतोष जैसा झमेला दुबारा न हो पाये।'

बहरहाल तराई भर में सागोरी मंडल नारायणदत्त तिवारी और कृष्ण चन्द्र पन्त की तरह मशहूर हो गयी। मजेदार बात तो यह कि मर्दों को उससे थोड़ी बहुत सहानुभूति हो भी जाये, भले घरों की बीबियों के लिए तो जैसे वह आँख की किरकिरी हो गयी। उनके लिए सागोरी मंडल का नाम चरित्रहीनता और वेश्यावृत्ति का पर्याय हो गया जैसे! वे ऐसी मुद्रा बनातीं जैसे सागोरी मंडल नाम की जैसी हजारों कतारबद्ध असहाय मेहनतकश बलात्कार-पीड़ित महिलाएँ तराई व्यापी उनके पूजाघर के आँगन में नित्य क्रियाएँ निपटा रही हों।

बेटी कोकिला ने भी कितनी दफा कहा, 'नामटा नियेई होये छे तोमार मुश्किल। 'पहले पद्मिनीपंत कहा करती थीं, और अब श्रीलेखा और संघमित्रा भी कहने लगीं, 'अपना नाम क्यों नहीं बदल लेती सागोरी।'

तो क्या ये भी बदनामी से डरती हैं। कहीं इनका नाम सागोरी मंडल होता तो? इन हालात में ये भी बदल डालतीं अपना नाम? आखिर क्यों?

नारायणदत्त तिवारी को सन् 1989 के पहले दिन महतोष मोड़ आकर बलात्कार पीड़ित महिलाओं से माफी माँगकर, गाँव-गाँव मुआवजा बाँटकर रिंची बाबू, शरणार्थी बाबा और काना सभापति जैसे लोगों को साथ लेकर दबाव के दम पर समझौता कर कुर्सी बचानी पड़ी। ब्लाक प्रमुख अशर्फी घास नहीं डालते काना सभापति को।

एकाध बार तो महिला संगठन की सदस्याओं के सामने भी दरोगा, ब्लाक प्रमुख और अन्य अफसरान ने काना सभापति को झाड़ पिलायी, सागोरी मंडल नाम की उस मुसीबत को संभाल नहीं पाये। दिल्ली तक हो आयी! 'क्या करें सर! यह तो पार्टी वाले हैं....'

महतोष आन्दोलन थमते ही सागोरी परिवार का सामाजिक आर्थिक बहिष्कार का ऐसा समां बाँधा काना सभापति और रिंची बाबू ने कि हमेशा शरीफ और ईमानदार माने गये तराई के बेहद संघर्षशील शरणार्थी बाबा भी कुछ नहीं बोल पाये। शरणार्थियों के लिए सारी जिंदगी न्यौछावर करने के बावजूद उन्होंने महतोष मोड़ आन्दोलन के चरमोत्कर्ष पर तिवारी के साथ ऐसा समझौता किया कि खुद उनके घर वाले बागी हो गये। जिन्दगी भर का किया-धरा बेकार हो गया। सागोरी उत्पात में हो न हो उनकी मौन सहमति भी रही होगी।

पार्टी वाले इन तमाम लोगों के नम्बर एक शत्रु हो गये । पार्टी के कार्यकर्ता पद्मिनी पंत से लेकर देवव्रत जोशी तक सब जेल में थे, जबकि रिंची बाबू और शरणार्थी बाबा ने गुपचुप समझौता कर लिया । मानवाधिकार आयोग की रिपोर्ट में नंगा सच का पर्दाफाश होने के बावजूद अखबारों में इनके बेशर्म बयान छपे कि महतोष कांड को अनचाहे राजनीतिक रंग दे दिया गया ! सत्ता की दलाली की टुच्ची राजनीति को अपनी शान समझने वाले लोगों ने किसी सफाई से मेहनतकशों के विद्रोह को राजनीतिक रंग कहकर खारिज कर दिया । अक्सर अब भी फाइलें उलट-पुलटकर इस पर श्रीलेखा, संघमित्रा, पद्मिनी पंत और अन्य लोग कहकहे लगाते हैं, तो गुसिया जाती सागोरी ! साजिशों पर हँसने का है कोई तुक ?

शायद इसी तीसमारखाँ अन्दाज के कारण भारतवर्ष के क्रांतिकारी आन्दोलन को हर बार टूटते रहने का दुखांत झेलना पड़ा। ऐसे में हर बार सागोरी बौखला पड़ती ! पहले ये पढ़ी लिखी महिलाएँ उस औरत की नासमझी पर हँसती थीं ! मगर अब वे भी हकीकत की आँच महसूस करने लगी हैं ! ऐसा क्यों होता है कि हर बार महिलाओं के आन्दोलन को पुरुषों के दुश्चक्रपूर्ण नेतृत्व के अर्न्तविरोधों के साथ नत्थीकर जुझारू औरतों को सड़क पर बेसहारा जलालत झेलकर मरने को छोड़ दिया जाता है । या फिर वे झोंक दी जाती हैं, जिस्म-फरोशी की अनंत दिशामूल में ।

तो नाम बदल डालने से ही क्या सागोरी बदल जाएगी ? सौ-सौ चूहे खाकर हज को चली बिल्ली मौसी के तेवर में तनी अवैध सम्बन्धों, चरित्रहीनता, और बेहूदगी को आधुनिक सौन्दर्य प्रसाधन के जरिए व्यक्तित्व का चुस्त दुरुस्त हिस्सा बना लेने वाली शरीफ-जादियों में शामिल हो जाएगी रातों रात ! बिस्तर गर्म करने वालियों की सहज मुद्रा बनाकर आम औरत की जिन्दगी जी सकेगी ? भूल जायेगी दुर्गापूजा के दरम्यान धान के खेतों और गाँव की गलियों के बीच की तमाम हरियाली को रौंदते कुचलते हाथों, पावों और समूचे चेहरे को एक अदद गर्म ठोस मांसपिन्ड की शक्ल को अख्तियार कर पवित्र नारीत्व का शीलभंग करने का वह झुठलाया गया हादसा, जो किसी गजरौला कांड की तरह चुनावी राजनीति का आलंबन पाकर न्याय नहीं पा सका और झूठी मेडिकल रिपोर्ट और बिचौलिया राजनीति के जरिये आजीवन अपमान का प्रतीक बन गया ?

सागोरी, कोकिला और महतोष की कई बलात्कार पीड़िताएँ दो रात के हादसों के बाद जीवित रहने लायक तो नहीं बची थीं । ए० डी० एम० नीतापुरी के झांसे में आकर प्राथमिकी तक दर्ज नहीं करा सकीं वे । आन्दोलन की राह

पकड़कर मेडिकल रिपोर्ट करवाते-करवाते लीपापोती हो गयी अच्छी तरह। सिर्फ इतना-सा हासिल हुआ कि पुलिस वालों की पिटाई के मुकदमे में गाँव से फँसा-कर मारे-पिटे, करन्ट दिये गये जेल में गये लोग मुकदमाबाजी और सख्त सजा की फजीहत से बच गये। कम से कम उन परिवारों का भला हुआ।

और उस नीतापुरी ए० डी० एम० को कभी नहीं भूल पायेगी सागोरी! सामूहिक बलात्कार की शिकायत लेकर गदरपुर पुलिस के खिलाफ बोलते ही सीधे उसने कहा था, 'धन्धा करती हो न तुम लोग?'

उस औरत की हैवानगी से दंग सागोरी और उसकी साथिनें जैसे पुरुष देह की घृण्यता और नपुंसकता की जलालत से भरपूर एक और स्त्रीलिंग बलात्कार का शिकार हो गयीं। गाँव देहात की बात होती तो मार-मार कर उसका भुर्ता बना देतीं। उसकी आँखें नोंच लेतीं। मगर वह बड़ी अफसर और वे पीड़ित फरियादी! विनीत खंडन के अलावा अभियुक्तों के खिलाफ उचित कार्यवाही का ही आवेदन कर पायीं वे। वह भी अपने स्वर में नहीं, पद्मिनी, श्रीलेखा और संघमित्रा जैसी औरतों की उधार ली गयी आवाज में। जिसे उस वक्त रिंची बाबू, शरणार्थी बाबा, काना सभापति और यहाँ तक कि अन्य कई सभा-पतियों, अशर्फी लाल के अलावा अन्य इलाकों के ब्लाक प्रमुख, टाउन एरिया और नगर पालिका चेयरमैन, लँगड़ा बहादुर, कई पार्टियों की जिला इकाईयों और पूर्व विधायकों और पूर्व सांसदों का समर्थन हासिल था। इन्हीं जैसे लोगों की मौजूदगी में अशर्फी को बुरी तरह लताड़ा था देवव्रत जोशी ने दिनेशपुर की जनसभा में, 'तुम्हारे जैसे जनप्रतिनिधि का सिर मुंड़वाकर गधे की सवारी निकालनी चाहिए!' पीड़ित महिलाओं की शरणार्थी होने की बदकिस्मती को अपराधियों का निर्दोष होने का सबूत बनाकर जो नीतापुरी, ए० डी० एम० की कलम चल पड़ी, सारा राजनीतिक परिदृश्य बदल गया। पहले पार्टी, फिर पीड़ित महिलाएँ और अंततः उनकी सबसे जुझारू साथिन सागोरी मंडल अकेली, निपट अकेली रह गयी!

लेकिन क्या मर गयी सागोरी?

दिल्ली गयी थी वह! मानवाधिकार आयोग की जाँच समिति के साथ। श्रीलेखा और संघमित्रा साथ थीं।

फिर राजधानी के पत्रकारों के बीच घिरकर उसने जैसे असहाय हिरनी-सा महसूस किया। बलात्कार हुआ या नहीं, सारे सवाल इसी पर जैसे—नारीत्व के इतने बड़े अपमान को किसी धर्म संस्था से जुड़ी सेविकाएँ कहें तो सच, और सागोरी मंडल जैसी कोई कहे, तो झूठ, क्योंकि उसके चरित्र का क्या ठिकाना।

यानि कि इस समाज में बलात्कार तो जायज है । बलात्कारियों को सिर्फ पात्रा के चयन के प्रतिमान दुरुस्त कर लेने चाहिए । फिर विधान सभाओं और संसद के जरिये एक कानून पासकर उन दी हुई परिस्थितियों में बलात्कार को मौलिक अधिकारों में शुमार कर लिया जाना चाहिए ।

सागोरी मंडल कोई श्रीलेखा, हर्षवर्धन, संघमित्रा सरकार और पद्‌मिनी पंत नहीं है, जो ठंडे दिमाग से वह यह सब सोच पाती । सोच लेती तो इतना सब कुछ अभिव्यक्त करने के लिए तो उसके तबके की किसी भी महिला को अभी हजार दफा और जनम लेकर लाखों दफा महतोष जैसा हादसा झेलना पड़ेगा । तब जाकर कहीं शायद दिल्ली और लखनऊ के पत्रकारों और राजनीतिबाजों के आकलन, बयानों और रिपोर्ताज से हट कर जनता के बीच सब झूठ और ताम-झाम को ध्वस्त कर देने वाला सच्चाई का परमाणु विस्फोट होगा । मगर चिंतन को सचमुच अगर कागजों पर उतारने की कला है किसी के पास, तो सागोरी मंडल ऐसा कुछ कहने का विद्रोह कर चुकने के बाद मर भी जाये तो बेहतर !

फिर भी दिल्ली के प्रेस कांफ्रेस में सागोरी खामोश नहीं थी । अखबारों ने खबरें भी खूब छापीं, मगर सच्चाई को झूठ में बदलले का तंत्र अखबारी खबरों से कहीं बड़ा होता है और अंततः अखबारों पर भी हावी होने का करिश्मा कर दिया जाता है । फिर बलात्कारियों का अपना अखबार भी तो छप सकता है ! है कि नहीं ? अखबार नवीस होने का मतलब दूध धुला तो नहीं !

सागोरी मंडल के दिल्ली प्रवास खत्म होते न होते नववर्ष के मौके का लाभ उठाकर तत्कालीन मुख्यमंत्री ने एक झटके से महतोष कांड का पटाक्षेप कर दिया और सागोरी मंडल हाशिये पर आ गयी ।

सागोरी की उम्र क्या होगी ?

बड़ी बेटी कोकिला उसकी ब्याही गयी है । उसके भी बच्चे हैं । फिर भी पैंतीस से बहुत कम है उसकी उम्र ? पढ़ी लिखी बिल्कुल नहीं । उसके लिए काला अक्षर भैंस बराबर था । थोड़ा बहुत जो सीखा अब वह सब पार्टी वालों की सोहबत में ।

पूर्वी बंगाल के ठेठ देहात के खेतीहर मजदूर परिवार की चार बेटियों में से सबसे बड़ी बहन । जमींदारी व्यवस्था में ब्राह्मण कायस्थों के सवर्ण सामंतो समाज में रैयतों की जितनी औकात हो सकती है, ठीक उतनी ही थी सागोरी मंडल के बाप की । उससे छंटाक भर न ज्यादा न कम । मजेदार बात तो यह है कि हिन्दू जमींदारों के राज में मुसलमान रैयतों की हालत तो कहीं और नाजुक थी । यदा कदा जमींदारों के यहाँ डकैती या फिर मुसलमान प्रजा के

विद्रोह जैसी घटनाओं को छोड़कर ढाका कलकत्ता के मुस्लिम लीगी आबोहवा का खास असर नहीं था वहाँ की दलदली जमीन पर ! सामंतों का आतंक हिन्दू-मुसलमान दोनों तरह की प्रजाओं पर बराबर ! ऐसे माहौल में बहू बेटियों की इज्जत अपने-अपने हाथ जितना जल्दी हो, हाथ पीले कर दो ! फिर वह जाने और उसका घर । और सागोरी की देह पर बंगाली नदियों के ज्वार भाटे का असर होते न होते उसकी शादी हो गयी ।

उसके मर्द परितोष की सबसे बड़ी खासियत थी कि वह न दारू पीता है और न जुआ खेलता है । उम्र इस लिहाज से थोड़ी ज्यादा मालूम होती थी, कि पहली बीबी उसकी मर गयी थी । मगर आस-पास के गाँव में बाहैसियत मजदूर उसकी धाक इतनी थी कि सागोरी के बाप ने फेरे डलवा दिये ।

परितोष जिन्दगी भर यही डींग हाँकता रहा, दायीं ओर से कोई काम में आगे निकलकर तो दिखाये !....

देश विभाजन का असर सागोरी मंडल के घर-परिवार पर इस लिहाज से ज्यादा नहीं पड़ा, क्योंकि वे सम्पत्तिहीन थे । साम्प्रदायिक हिंसा का भी तो आखिर कोई मकसद होना चाहिए । फिर हिन्दू बहुसंख्यक इलाके अभी जस-के-तस मौजूद थे । विभाजनी मार-काट, उथल-पुथल और हलचलों के बावजूद ! धर्म और संस्कारों के मामलों में इन लोगों ने थोड़ा दबकर पूर्वी पाकिस्तान की नई व्यवस्था में अपनी जगह बनाये रखने की कोशिश की थी ! लेकिन भाषा आन्दोलन के चक्रवात ने फिर सारे समीकरण गड़बड़ा दिये । उर्दू थोपने के विरुद्ध पूर्वी पाकिस्तान का प्रतिरोध समूचे बंगाली समाज का था, लेकिन फौजी शासकों और उसके दलाल मुस्लिम कट्टरपंथियों ने इसी बहाने हिन्दुओं को उजाड़ने का नया उपक्रम शुरू किया । फिर दंगे शुरू हुए ।....

घर-परिवार से बिछुड़कर सागोरी और परितोष अबके सीमा के इस पार आ जाने को मजबूर हो गये । वह जमाना लद चुका था, जब बंगाल के प्रखर कम्युकिस्ट नेता ज्योतिबसु दहाड़ते हुए ऐलान करते थे, पूर्वी बंगाल के शरणार्थियों को पुनर्वासित किया जाये । वे बंगाल से बाहर नहीं जायेंगे । मगर सीमा के इस पार टुकड़ा-टुकड़ा संस्कृति की धरोधर समेटे लोगों के पूरे हिन्दुस्तान भर में बिखराव के बाद सागोरी और परितोष के लिए अपनी जमीन तलाशना बेहद मुश्किल था ।....

अंततः तराई में उन्हें जगह मिली । दिनेशपुर की भूमिहीन बस्तियों में उनकी जिन्दगी भी खपने लगी....फिर एक दिन कोकिला का ब्याह भी हुआ महतोष मोड़ की भूमिहीन बस्ती में । महतोष में बेटी का ब्याह करते वक्त क्या

मालूम था कि एक दिन ऐसा भी आयेगा कि सिर्फ बंगला भाषा होने के कारण उन पर विदेशी नागरिकों का ठप्पा लगाकर बलात्कार शुदा होना जायज ठहराया जायेगा। और तराई में पंजाब से विस्थापित होकर नये सिरे से बसे लोग भी इतनी जल्दी भूल जायेंगे भिटगुमटी, लायलपुर, लाहौर, रावलपिंडी और सियालकोट में माँ-बहनों की अस्मत लुटने के उन तमस भरे दिनों को। किसे मालूम है कि किसी दिन राजनीतिक उथल-पुथल के चलते देश का कोई और हिस्सा मसलन पंजाब या कश्मीर का विभाजन हुआ तो वहाँ से विस्थापित हुए अपने लोगों को कौन-सा तमगा पेश करेंगे नये जमाने के राजनीतिकार ? और नारी शरीर के भूखे गिद्ध माँ-बहनों से पेश आने का सलीका सीखने की जहमत उठायेंगे भी या नहीं।....

सब सोचना किसी बुद्धिजीवी का काम है। हर्षवर्द्धन दंपत्ति सोचे यह सब मगर शायद वे सोचते भी हों। इसीलिए तो देश भर में जनता के बीच, जनता के लिए लड़ने वाले जनवादियों की एक श्रृंखलाबद्ध कतार तैयार हो रही है आहिस्ता-आहिस्ता। महतोष जैसा आन्दोलन उसी निर्णायक युद्ध की तैयारी का एक अहम हिस्सा ही तो है। जब धर्म, जाति और भाषाओं की सीमाएँ तोड़ कर सर्वहारा वर्ग के तमाम लोग मोर्चाबद्ध हो जायेंगे, सब महतोष मोड़ की तरह साम्प्रदायिक व्यामोह में आन्दोलनों के टूटने बिखरने का खतरा भी नहीं होगा। बीच बहस में संघमित्रा, पद्मिनी, कांता, रजनी, श्रीलेखा और कितनी ही साथिनों ने ऐसा महसूस किया मगर सागोरी तो यह जिंदा अहसास एक क्षण के लिए भी अपने से अलग नहीं कर पाती। और इस तरह की सोच जब दिमाग में हो तो वह सिर्फ एक कामकाजी मजदूर नहीं रह जाती। न ही बलात्कार की दरिंदगी से नष्ट हुआ सतीत्व उसके नारीत्व की अस्मिताशिखा की आँच को तनिक मंद कर पाता।

कभी-कभी सोचती है सागोरी मंडल ! बेटी कोकिला ही दुश्मन है ! न उसके घर वह जाती, न ही महतोष के हादसे से उसका उलझना होता। सामान्य-सी चलती रहती बाकी जिन्दगी। फिर वह सोचती, अगर विभाजन के ठीक वक्त पर आ जाते इस पार तो तराई के दूसरे एलाटी बंगाली परिवारों की तरह शरणार्थी होने की त्रासदी से शायद उबर जाते एकबारगी। मगर यहीं उसकी वर्ग चेतना इतनी चेतन हो जाती कि थू-थू करने लगती। उसके समस्त अस्तित्व पर, उसके होने और न होने के औचित्य पर और उसके जिंदा रहने के सच पर सवालिये चिह्न उठ खड़े होते ! अगर वह महतोष नहीं जाती तो क्या महतोष बलात्कार कांड नहीं होता ? कोकिला के निर्दोष शरीर को खुरच-खुरच कर

चाटते नहीं वे हरामखोर मां-बहन, बहू चटोरे ? और कोकिला भी नहीं होती वहाँ तो क्या शेष औरतें उसकी कुछ नहीं लगतीं ? और महतोष मोड़ की वह बस्ती अगर और आस-पास की कालोनियाँ अगर बंगाली आबादी नहीं होतीं, तो वहाँ हुआ कोई बलात्कार कांड उसे भी उतना ही तटस्थ बनाये रखता जितना तराई की जनता का एक बहुत बड़ा भाग ऐसे हर हादसे में हुआ करता है, आखिर यह मेहनतकश तबका रोज-रोज की मौत के बावजूद एकताबद्ध होकर मुसीबतों का मुकाबला कर जीने की तरह जीना कब सीख पायेगा ?

श्रीलेखा दीदी तो कहती हैं 'महतोष ने शुरुआत कर दी है ! व्यवस्था के दमन को आगे किसी-न-किसी बिन्दु पर समझौता होना था। समझौता हुआ भी ! मगर वह रिंची बाबू और काना सभापति जैसे दलालों, शरणार्थी बाबा जैसे बेबस जनप्रतिनिधियों और नारायण दत्त तिवारी जैसे मुख्यमंत्री के बीच। आम जनता और मेहनतकश जनता का उस समझौते से कोई वास्ता नहीं !

पद्मिनी पंत और संघमित्रा के भी ये ही तर्क होते। रजनी और कांता कहतीं, 'हम लोगों ने संगठन का काम तो नहीं छोड़ा, सागोरी !'

सागोरी को बरबस रुद्रपुर में महिलाओं पर लाठी चार्ज का वह दृश्य याद आता, जब ए० डी० एम० नीतापुरी अपनी अफसरी और नारी स्वतन्त्रता के चरमोत्कर्ष पर पुलिसिया दमन और उत्पीड़न का सहारा ले रही थी।

नारे लग रहे थे, 'ए० डी० एम० नीतापुरी बाहर आओ। महतोष की सच्चाई बताओ।'

रुद्रपुर के प्रसिद्ध नेता लंगड़ा बहादुर ने भीड़ को शान्त करना चाहा, तो महिलाएँ उत्तेजित हो गयीं। नारे लगे, 'दलाली नहीं चलेगी !'

बस, इतने पर ही शुरू हो गया लाठीचार्ज ! लंगड़ा बहादुर सिर्फ दलाल कह दिये जाने से ही इस कदर नाराज हो गये कि रातोंरात पाला बदल दिया, कहाँ तो प्रदर्शनकारी और हिरासत में ली गयी महिलाओं की हिफाजत करने और उन्हें उनकी बस्तियों में सही सलामत पहुँचाने के लिए तराई और तराई के बाहर उनकी तारीफें ही तारीफें हो रही थीं, और कहाँ वे लाठीचार्ज के हकीकत चश्मदीद गवाही से भी मुकरने लगे !

शायद प्रतिष्ठित लोगों की ही हैसियत में होता है इस तरह पाला बदलना। मेहनतकशों की लड़ाई से अपने को अलग हटाना ! रिंची बाबू, काना सभापति और शरणार्थी बाबा की भी मजबूरी होगी ! जब देशव्यापी हंगामे के बावजूद विधानसभाएँ और संसद तक खामोश रहीं तब किसी गजरौला कांड और प्रधानमंत्री विरोधी फतेहपुर प्रकरण की तरह महतोष की लड़ाई लम्बी नहीं

खींचनी थी। अभियुक्तों का वेदाग निकलकर समाज में पुनर्प्रतिष्ठित होना ही था। 1989 के चुनाव में देवव्रत जोशी के विरोधी लोगों का वर्चस्व क्या दिनेशपुर रुद्रपुर के पूरे इलाके में नहीं दिखा ? लेकिन क्या इसी से सागोरी की लड़ाई खत्म हो गयी ?

रिंची बाबू की औकात है ही क्या ? सुबह से लेकर देर रात तक शराब के नशे में धुत ! तिवारी की चमचई में उन्हें इलाके का नेता बना दिया गया और महतोष आन्दोलन के शुरुआती दौर में उनकी भूमिका भी थी सकारात्मक।

काना सभापति महतोष प्रकरण में ब्लाक प्रमुख अशर्फी के खिलाफ चले गये कुछ दिन, क्या यही कम है। वृद्धावस्था पेन्शन, काम के बदले अनाज, राशन कार्ड के कमीशन, सहकारी कर्जों और गाँव देहात के कामों के सैकड़ों घोटालों में गले-गले तक फँसे पंचायती राज के महारथियों को क्या सागोरी बहुत नजदीक से नहीं जानती ?

फिर शरणार्थी बाबा से ही इतनी अपेक्षाएँ क्यों ? ढिमरी ब्लाक से लेकर अब तक की हर लड़ाई में भगोड़े की तरह किसी तरह भागकर अपनी जान बचाना, जेल जाने के डर से सिमट कर रह जाना, वर्षों मुकदमा लड़ने के बावजूद मुकदमेंबाजी से अद्भुत ढंग से डरना और देश की किसी भी संकटकालीन उथल-पुथल के दौरान समूचे शरणार्थी समुदाय को संकट में फँसा महसूस करना जिनकी मजबूरी हो, चाहे कितने ही ईमानदार क्यों न हों, उनकी ईमानदारी पर सवाल उठेंगे ही।

'कम से कम ये लोग और इन्हीं के जैसे अलग-अलग समुदायों में बँटे लोगों के प्रतिनिधि तराई में जन आंदोलन नहीं चला सकते'।

यह सामूहिक मूल्यांकन था।

फिर भी महिला संगठन का काम ढीला क्यों पड़ा ? देवव्रत जोशी जैसे लोग अब जनता के बीच क्यों नहीं दीखते ? पद्मिनी पंत पार्टी से बाहर क्यों हैं ?....हालाँकि ये सभी सवालात पार्टी के अन्दरूनी मामले हैं, मगर चूँकि महतोष प्रकरण से इनका प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सम्बन्ध है, इनसे पीछा नहीं छुड़ा पाती सागोरी मंडल। श्रीलेखा दीदी, संघमित्रा, रजनी और कान्ता कोई भी इन सवालों का सीधा-सीधा जवाब नहीं दे पाती।

परितोष हजार बार कह चुका, 'सागोरी, तुर्क नेता होये गिछिस। मुखपूड़ी, जा होयेछे भूले जा ! तेवारी जी निजे एसे माफ चेये गेछे। टाका दिये गेछे सब्बाइरे। थाकति जखोन होबि ईखाने, जोले थाके कुमीरेर संगे लड़ाई कोरे की लाभ ?'

महतोष के हादसे से भी जो परितोष नहीं बदला, बंगाली नेताओं के दबाव में आकर सागोरी को घर में बाँधकर रखने की कोशिश नहीं की, बीमार पड़कर बेरोजगार होते न होते वह बदलने लगा। थोड़ी बहुत तबियत ठीक होती तो वह मजदूरी पर निकल जाता। फिर बिस्तर पर पड़ जाता। हड्डी पसलियाँ निकल आयीं! दवाइयाँ मिल जाती हैं राजनीतिक हस्तक्षेप से, मगर खाने पीने की जो सहूलियतें चाहिए, वे कहाँ से मिलतीं।

जब भी वह घर पर होता कोसता रहता सागोरी को। गालियाँ बकता, 'सागोमा रानी, चुलकूनि होइछे खूब। पार्टी माराये-माराये पोंद मारि छाड्छि।'

बेहद गंदी गालियाँ बकता वह, यहाँ तक कि श्रीलेखा दीदी का लिहाज तक नहीं करता। हालत यह है कि जब भी वह घर पर रहता औरतें उसके यहाँ नहीं आतीं।

एकाधबार गुस्से में आ गयी संघमित्रा! बोली भी, 'परितोषदा! आपनार माथा खाराब होये गेछे! जा ता बोलछेन बड्डो। एरकोम कोरले भालो हबेना। वार्निंग दिये दिलाम।'

तबसे थोड़ा सहम-सा गया परितोष। जानता है, संघमित्रा महज हवाई फायर करने वाली नहीं। जरूरत पड़ी तो पिटवा भी देगी। क्या पता, जेल में ही बन्द करवा दे।

श्रीलेखा बड़े धीरज से उसे समझाती! 'हालात से लड़ना सीखो परितोष भाई। सागोरी इतनी बहादुर है और तुम भी तो ऐसे नहीं थे कभी। फिर टी० बी० कोई बीमारी है? इलाज चल रहा है सब ठीक हो जायेगा।'

परितोष ठीक हो जाता। चुप भी हो जाता। फिर कभी-कभी कुछ कहना चाहता। मगर 'दीदी' इतना कहकर ही वह रोने लग जाता। कभी-कभी अफसोस करता 'नैतारा देशडार बारोटा बाजाइछे। सूओरेर बाच्चारा भोट छाड़ा किच्छू जानेना। ओफ! की स्वप्नेर जीबनेड़ा माटी होये गेलो....हायरे पोड़ा कपाल।'

एक ओर परितोष का यह टूटा-उजड़ा व्यक्तित्व तो दूसरी ओर सागोरी के तन-बदन में जलती धू-धू प्रतिरोध की आग। महतोष कांड के बाद तीज-त्योहार, उत्सव सब कुछ भूल गयी वह। याद है, तब दर्जनों गाँवों में लोगों ने दीवाली नहीं मनाई थी, त्योहारों की पूरी की पूरी पवित्रता प्रतिरोध की आग बन गयी थी सागोरी के लिये। जीती जागती ज्वाला बनकर वह तराई से लेकर उत्तराखंड की शिखर-शिखर तक व्याप जाना चाहती है। चप्पे-चप्पे में मस्ती मारती दरिंदगी से पंजा लड़ाकर उसे परास्त कर एक नया इतिहास बनाना चाहती है।

नक्सलबाड़ी का नाम सुना है सागोरी ने। रूस और चीन की क्रांति कथाएँ भी उसे श्रीलेखा और संघमित्रा दीदी ने सुना रखी हैं। फिर पार्टी के टुकड़ा-टुकड़ा बिखराव तेलंगाना से अब तक का इतिहास, मध्य बिहार के प्रतिरोध, संसदीय राजनीति में हिस्सेदारी, सभी मुद्दों पर बहस में शामिल होती रही है वह। फिर भी उसे लगता है कि किसी क्रांति कथा में औरतों के साथ पूरा न्याय नहीं हुआ। उनकी भूमिका को अति नगण्य कर दिखाया गया है। कम से कम उसे तो यही लगता है कि क्रांति से औरतों के हालात नहीं बदला करते। औरत आखिर औरत ही रहती है, शराब की तरह जिस बोतल में ढालो उसी की शक्ल अख्तियार करती हुई। सबको मदहोश बनाना ही उसका काम। चिर शाश्वत भोग्या ! पण्या ! वस्तु।

सागोरी सोचती कि क्या कोई ऐसी क्रांति संभव है जो नारी को जात बिरादरी से बाहर परिवार के भीतर और उसके दायरे तोड़कर समूचे अंतर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में उसकी अपनी पहचान, वजूद बख्शे। क्या इसके लिये उसकी शारीरिक संरचना में ही कोई बुनयादी परिवर्तन जरूरी है ? अगर है तो क्या वह नितांत असंभव है, इस वैज्ञानिक युग में भी ?

जब भी वह इस मुद्दे पर चर्चा छेड़ती, श्रीलेखा, संघमित्रा, पद्मिनी, रजनी, कांता सब गम्भीर हो जातीं। सन्नाटा छा जाता, बेजुबान हो जातीं सब की सब। जैसे पंख कटे परिन्दे बन जातीं वे।

कुल मिलाकर सागोरी मण्डल का जीवन महतोष मोड़ का वह धान का खेत है, जहाँ शराब पीकर ब्लू फिल्म देखकर कामान्ध बन गये सिपाहियों और गुन्डों ने मिलकर दुर्गा पूजा के पंडाल और बाद में बस्ती और गाँवों की दर्जनों औरतों के साथ सामूहिक बलात्कार किया। उस जमीन से भूमिहीनों, शरणार्थियों और मजदूरों को वेदखल करने की यह एक सोची समझी मामूली सामंती चाल थी।

जमीन से वेदखली की साजिश, मजदूरी की चक्रवृद्धि जिन्दगी और बलात्कार कांडों के बीच अपनी पहचान के लिए लड़ रही सागोरी मंडल जैसी औरतें महतोष के अपमानित धान खेत की तरह नष्ट भ्रष्ट होकर भी फसल से लहलहा रही हैं भरपूर। फ़सल काटने वाले हाथों और पाँवों और उनके पीछे के दिमाग की औकात क्या, जब अपने ही लोगों को उस खूनसनी फसल के कण-कण में फैले स्त्री के मातृत्व अंग से स्खलित अपमानित सदियों के शोणित की धार के रंग की पहचान नहीं ?

इस हादसे के बावजूद सागोरी मंडल जिन्दा है।

और शायद इसी तरह जिन्दा हैं अपनी पहचान के लिये दुनियाभर की लाखों, करोड़ों, अरबों औरतें । क्या किसी पार्टी के पास उनके इस जीवन में क्रांति के लिये कोई कार्यक्रम है ?

सागोरी मंडल ऐसे किसी भी कार्यक्रम में ठीक उसी तरह शामिल होगी जिस तरह गजरौला काण्ड के खिलाफ शहर में निकले इसाईयों के जलूस में वह शामिल हुई थी। उनके लिए महतोष की लड़ाई हर रोज के काम पाने की लड़ाई से कम महत्वपूर्ण नहीं है ।

□ □

दो कविताएँ

यह लड़की चलेगी शर्मसार होकर झुण्ड में

□ नरेन्द्र पुण्डरीक

कागज में चीजों के
नाक नक्श उतारती यह लड़की,
चीजों के नाक नक्श और
रंग लिये अचानक एक दिन,
गायब हो जायेगी।
टापते रह जायेंगे
ये आधे अधूरे चित्र,
भाई घर के किसी कोने में
फेंक देंगे रंग की
सारी कटोरियाँ।
जिनमें जरूर बाकी बचे होंगे
इतने रंग कि
फिर से रंगी जा सके
एक पूरी की पूरी दुनियाँ।
फेंक दी जायेंगी
एक दिन कूड़े के साथ
उसकी सारी ब्रशें।
धीरे-धीरे हटा दी जायेंगी
इस घर से वे सारी चीजें,
जिनसे पहचानी जायेगी
यह लड़की।
एक दिन यह लड़की
पहचानी जायेगी,
अमृता शेरगिल के रंगों से,
ठीक वैसे ही
संवला जायेगा

इसका रंग
ठीक वैसी ही चलेगी
शर्मसार होकर झुन्ड में
जैसे चलती हैं
अमृता शेरगिल की औरतें ।
अमृता शेरगिल की औरतों की तरह
चलती हुई एक दिन
यह दाखिल होकर
गोगी सरोज पाल के चित्रों में,
टंग जायेगी किसी आर्ट गैलरी में

हर तरफ खड़ी होगी तुम

देर रात गये जब मैं
पहुँचता हूँ घर
मेरी एक आवाज से
कैसे खुल जाती है तुम्हारी नींद
जागती हुई माँ के आवाज देने से पहले
तुम्हारे हाथ खोलने में
लग जाते हैं दरवाजे
अक्सर मुझे लगा कि
इस आपा धापी की दुनिया में
जहाँ सब कुछ तेजी से
गड्ड-मड्ड हो रहा है
तुम हमेशा सदियों तक
इसी तरह श्रान्त थके मेरे लिए
खोलती रहोगी दरवाजे और
मुझे निकालकर गहन सन्नाटे से,
एक साज के मानिंद सौंप दोगी
मेरे हाथों में खुद को ।
तुम्हारी इन आँखों की गहराई में
अनन्त बार डूब कर भी

नहीं पा सके मेरे पाँव उसका छोर
जिनसे एक डोर की माफिक
बाँध कर तुम ले आयी
हर बार मुझे घर।
मैं जानता हूँ
यह काल रगेदता हुआ
ले जाये मुझे कहीं भी
अपनी ठोकरों से,
हर तरफ तुम खड़ी होगी
इसी तरह मेरे लिए
दरवाजे खोलती हुई और
मेरे जिस्म में लगे
समय के घाव को
अपने अन्दर समोती हुई तुम
भरती रहोगी ताकत
युगों-युगों तक इसी तरह
एक बार फिर से
समय के खिलाफ खड़े होने के लिए।

□□

पृथ्वी

कविता मेरे पास आयी है
तब से
पृथ्वी मेरे आस-पास रहती है
विश्वास है इसे—
कि जान मैं इसकी
बचा लूंगा
असंख्य घावों पर इसके
मरहम भी लगा दूंगा
पहले-सी
सहमी नहीं रहती है
आँखों में इसकी
आशा की चमक है—
कि छाती पर इसकी
जल्द ही
नफरत की ज्वाला नहीं
प्यार की बसंती बयार
झुरझुराने लगेगी,
कि शीघ्र ही इसकी कोख
शैतान औ' संगीनें नहीं
इंसान औ' गुलाबें
जनने लगेंगी
शायद इसीलिए
पृथ्वी
घूमती है दिन-रात
अब
मेरे साथ-साथ

बूढ़ा होना, मैं नहीं चाहता हूँ

बूढ़ा होना, मैं नहीं चाहता हूँ
मेरे पोते, मेरी पोतियों
खेलना चाहता हूँ मैं भी
गोटियाँ तुम्हारे साथ
मैं तुम्हारे साथ
रोना चाहता हूँ
हँस-हँसकर
तुममें खोना चाहता हूँ
बातें करना चाहता हूँ
भर मुँह
तुम्हारे साथियों, तुम्हारी सहेलियों से
मेरे जिगर
मैं भी
जीना चाहता हूँ
बीती जिन्दगी को
तुममें ढूँढ़ना चाहता हूँ
मैं भी एक मनुष्य हूँ !

तुम्हारे पापा के
अधिकारी दोस्त के आने से
थाली में खाना रखकर
तुम्हारी माँ के चले जाने से
देखकर मुझे
तुम्हारी नजर के घूम जाने से
बूढ़ा हो जाता हूँ
मेरे पोते, मेरी पोतियों
बूढ़ा होना
मैं नहीं चाहता हूँ।

शिक्षा और परीक्षा

परीक्षा देनी है
रट जाओ—
सम्पन्नता में विपन्नता है
भारत एक गरीब देश है
रटो—
भारत में लोकतंत्र है
अधिकार और कर्तव्य
समान हैं सभी के
सारी शक्ति लगा दो
साइन्स हो या आर्ट
बगैर रटे
कैसे होगे पास
क्यों, क्या और कैसे, क्यों ?
बस
नम्बर का काम है
शिक्षा और परीक्षा यहाँ
शायद
इसी का नाम है !

□□

कहानी

जी साब

□ डॉ० उज्ज्वल कुमार

'प्रेम सिंह, कुर्सी इधर करो ।'

'जी साब !'

'प्रेम सिंह, मेज खिसकाओ ।'

'जी साब'....

प्रेम सिंह चादर समेटो, कॉट ठीक करो, आलमारी से कप-प्याली निकालो, यह करो, वह करो....और हर आदेश पर प्रेम सिंह का एक ही जवाब होता 'जी साब !' जैसे उसकी माँ ने 'ना' करने के लिए सिखाया ही नहीं हो। प्रेम सिंह यानी वीरमानी साहब का नौकर। एक हजार महीने की तनख्वाह, दो शाम भोजन और साल में दो जोड़ी वर्दी। रहने को किचन का ही एक छोटा-सा कमरा जिसमें वह दलबल समेत रात को समा जाता है। दिन भर बीबी-बच्चों समेत मालिक की तावेदारी करता है, रात को उस छोटे से कमरे में जूठा-कूठा खाकर सो रहता है। वैसे उसकी बिटिया बड़ी होने लगी है, पन्द्रह साल की हो गई है और वह छोटा-सा कमरा उसे बेपर्द लगने लगा है, पर क्या करे ? वह जानता है, शहर का मतलब क्या होता है। यहाँ लाज-लिहाज धोकर पीना पड़ता है, छोटे-से कमरे में बड़े-बड़ों को सोना पड़ता है....। इसलिए प्रेम सिंह को इस बात का इतना मलाल नहीं है जितना मलाल उसे और बातों का है। हाँ, वह रात में कभी-कभी अपनी बीबी की बाहों में सोया-सोया अजीब तरह से सोचने लगता है। मालिक तो पच्चास के जरूर होंगे। मालकिन भी कुछ कम नहीं, पर दोनों एक ही कमरे में सोते हैं। उनका पलंग भी कितना बड़ा है। दो जनों के लिए इतना बड़ा पलंग। कैसा मखमली सेज लगता है—मालिक और मालकिन का। और एक उसकी टूटी-सी खटिया है। उसी में सोनू, मोनू और रनिया के साथ सोना पड़ता है। सोनू पाँच साल का मोनू दस का। बेचारी प्रतिमा नीचे चटाई पर कोने में दुबक जाती है। मुंह दीवाल की तरफ कर लेती है। शायद जानबूझ कर। कितनी समझदार है उसकी बेटी। वह अक्सर सोचता है।

दूसरा मालिक का परिवार है। रिंकी और पिंकी। एक दस में पढ़ती है,

दूसरी बारह में। दोनों में जरा भी तमीज नहीं। बड़ी तो और भी चुड़ैल लगती है। उस दिन मालकिन को गाली दे रही थी। मालिक ने मना किया तो उन्हें भी कुत्ता कह दिया। मालिक की तो नाक ही कट गई। जवान बेटी को तो मारना भी नेकनामी नहीं। माँ-बाप का जरा भी लिहाज नहीं। बाप रे, कैसा जमाना आ गया है। छोटी भी कम नहीं। वह तो लौंगिया मिर्च है। और बेटा, उसके क्या कहने ! बी० ए० में पढ़ता है। अरे पढ़ता क्या खाक है, चार मास्टर ट्यूशनी पढ़ाते हैं। उसपर चार बार हर क्लास में फेल करता है। वह तो बाप-दादे की गाढ़ी कमाई है कि कार, मोटर, ऐश-मौज सब चल रहा है....। ऊपर से नौकर पर दादागिरी करता है। अब उसी दिन की तो बात है। तीनों राइडिंग से शाम को लौटे थे। मालिक भी साथ थे। फौजी अन्दाज में तीनों ने घर में प्रवेश किया। बेबी ने उसे देखते ही डाँट मारी और कहा—'प्रेम सिंह, जूते खोलो।' प्रेम सिंह पालतू कुत्ते की तरह पैर के नीचे बैठकर जूते खोलने लगा। अब पता नहीं क्या हुआ, एक जोरदार लात उसके सीने पर पड़ी, वह बिलबिलाकर वहीं गिर पड़ा।

वीरमानी साहब दौड़े, 'क्या हुआ' ?

'इस रास्कल को आज ही भगाओ पापा, इस कुत्ते को आज बाहर करो।'

प्रेम सिंह रोने लगा। दर्द से उसका पेट फटा जा रहा था।

साहब ने पूछा—'अबे रोता क्यों है ?'

प्रेम सिंह ने काँपते हुए कहा—'मालिक, बेबी ने पेट पर जोर से मार दिया।'

वीरमानी साहब चीखे—'तो इसमें क्या बुरा हुआ, तुमने कोई गुस्ताखी की होगी !'

बेबी चिल्लाया—'यस पापा, इस हरामजादे को जूते निकालने की तमीज नहीं। जूते के साथ मेरा पैर भी उखाड़ देता।'

वीरमानी साहब को भी ताव आ गया—उन्होंने दो-चार तमाचे ऊपर से उसे दिये और कहा—'सामान पैक कर दफा हो जा, मत दिखाना अपनी काली सूरत !'

प्रेम सिंह लँगड़ाता हुआ कमरे से बाहर चला आया। उसे भी उस दिन बहुत गुस्सा आया था। चाहता तो सचमुच बेबी के पैर उखाड़ देता और वहाँ से भाग जाता, पर बाल-बच्चों का ख्याल ने उसे रोक लिया। वह बाहर लॉन में बेजार रोने लगा। वह तो खैर थी कि उसकी घरवाली और बच्चे बाजार गये थे, नहीं तो वह उनको क्या जवाब देता ? थोड़ी देर वह वहाँ पड़ा रहा,

फिर धीरे से रसोई में चला गया। रसोई में उसका जी न लगा और वह अपने कमरे में खाट पर पसर गया। फिर उसे याद नहीं कब रात हुई !

सुबह उसकी नींद खुली तो मालकिन सामने थी। वह बोल रही थी—

'प्रेम सिंह, तुम्हें पता है क्या हुआ ?'

प्रेम सिंह चुप था।

'रात में हम लोगों ने कुछ नहीं खाया।'

भीतर से प्रेमसिंह को अच्छा लगा था, पर बाहर से वह शांत रहा।

मालकिन पूछ रही थी—'रात में क्या हुआ था ?'

प्रेमसिंह खुल पड़ा—'मालकिन हम तो नौकर ठहरे, हमारी क्या औकात ? दस बात आप लोग कहते हैं, सुन लेता हूँ, पर मार तो बर्दाश्त नहीं होता मालकिन।

'तुम्हें किसने मारा ?' मालकिन ने चेहरा बना कर कहा।

'बेबी और मालिक ने।'

'क्यों ?'

'अब उन्हीं से पूछिये।'

मालकिन को भी तैश आ गया, पर सोची इस समय नौकर को भगाना अच्छा नहीं, खाना कौन बनायेगा। सो, वीरमानी साहब पर दिखावटी गुस्सा करते हुए बोली—'बेबी तो बच्चा है, पर पता नहीं इनको क्या हुआ ? इनकी भी बुद्धि चरने गई है। चलो उन्हें समझा दूँगी। तुम किचन में काम सँभाल लो।'

और प्रेम सिंह फिर रोज की तरह काम में जुट गया। वह तो धीरे-धीरे ऐसी घटनाओं का आदी होने लगा था। उसे जीवन में ऐसी घटनाओं की आदत सी पड़ गई थी। वह जान गया था, उसके लिए जीवन का मतलब और कुछ नहीं। बचपन से आजतक उसे अक्सर यही व्यवहार लोगों से मिला था। उसे तो दुनिया पर ही कभी-कभी क्रोध होता। उसे अपने माँ-बाप पर गुस्सा होता जिन्होंने उसे पैदा किया। पैदा किया तो एक बेहाल जिन्दगी दी। खुद मालिक का गुलाम था, उसे भी गुलाम बना दिया। इस दुनिया में उसके लिए और है ही क्या ? लात, घूँसे, गाली, अपमान। बचपन में बाप पीटता था। गाँव में मालिक का काम करने जाता तो बात-बात पर मालिक पीट देता। एक बार गाँव में एक मीटिंग हुई थी। मालिकों के खिलाफ मीटिंग थी। प्रेम सिंह भी उसमें गया था। उसमें बाहर से कोई 'कामरेड' ने आकर भाषण दिया था। उस दिन रात में मालिकों ने भी मीटिंग की थी और मजदूरों को दूसरे दिन

मार-पीट कर गाँव से भगा दिया था। उसका बाप तो वहीं रह गया, पर वह जवान बीबी के साथ दिल्ली चला आया।

दिल्ली में उसने क्या-क्या पापड़ नहीं बेले। रिक्शा खींचा, सिपाहियों के डंडे खाये, पटरी पर सामान बेचा, झुग्गी में खोमचे लगाये, पर हर तरफ उसे निराशा मिली। सब जगह भूखे भेड़ियों से उसका सामना हुआ। अब तो वह जान गया था, गरीब का कोई नहीं। आटी-पाटी भी उसने की। सब पार्टी से निराशा ही मिली। झुग्गी में बेचन-प्रधान उसके गाँव के मालिक से कम खूँख्वार नहीं था। उसकी बीबी के साथ जबर्दश्ती करनी चाही थी। वह तो रनिया जैसी पवित्तर औरत थी कि हल्ला मचा दिया वरना सौ औरतों को प्रधान और उसके लोग चटखारे लेकर उड़ा चुके हैं। उस समय उसने थाना पुलिस सब किया, पार्टियों के दफ्तरों के चक्कर लगाये, पर सब बेकार....। ये पार्टी वाले भी अजीब लोग होते हैं। झंडा, बैनर, पोस्टर वह ढोता, उनके भाषण सुनता, जुलूसों-जलसे में ताबेदारी करता, चंदे देता, पर काम पड़ने पर प्रधान से चूँ करने की हिम्मत नहीं। आखिर प्रधान ही तो उसे वोट दिलवाता है। वोट, ऊँह। उसके मुँह का जायका बिगड़ने लगा। उसने पच्च-से थूक दिया। वह जानता है, वोट के दिनों में झुग्गियों में क्या नहीं होता। शराब की नदियाँ इसी जगह आ जाती हैं। हर पार्टी की ओर से शराब की पेटियाँ खुलती हैं। शराब और वोट के इस रिश्ते को वह कभी समझ नहीं पाता था। हाँ, इतना जानता था, जिधर प्रधान— उधर वोट! इसलिए कोई भी पार्टी प्रधान के खिलाफ नहीं जा सकती। और प्रधान, वह सूअर की औलाद, इसी बूते पर कूदता है। उसकी राजपूती मूछें उसे याद हो आतीं....। उसके बाद से ही प्रेम सिंह कोठियों में काम करने लगा था। लगातार चार साल से वह कोठियों में काम कर रहा है। एक साल कपूर साहब के घर काम किया, एक साल बेदी साहब के पास, एक साल तीन महीने राव साहब के पास और अब वीरमानी साहब के पास। यहाँ काम करते उसे दस महीने तो हो ही चुके हैं, पर यहाँ से भी उसका मन उचाट होने लगा है। उसे हर जगह एक ही तरह के लोग मिलते हैं। कोई उसे गाली देता, तो कोई वेतन काटता, कोई बात-बात पर थाना पुलिस की धमकी देता। हर जगह काम छोड़कर वह नया मालिक खोजता पर दो महीने में उसे नया-पुराना में फर्क नहीं मालूम पड़ता। शुरू में वीरमानी साहब के पास भी ठीक था। पर, अब तो इनके घर में भी उल्टी हवा बहने लगी है। आसपास के नौकरों से वीरमानी का चरित्र जो पता चला उसे सुनकर तो उसके रोंगटे खड़े हो जाते। बगल में कौल साहब का नौकर एक दिन बताने लगा—'बचकर रहना भइया, तुम्हारा

मालिक तो कसाई है, एक नौकर की जान ले चुका है और साफ बच गया....दो एक दिन पुलिस आई....कह दिया नौकर ने खुद फाँसी लगा ली, मामला रफा-दफा....।' प्रेम सिंह तो सचमुच काँप गया था उस दिन !

जिस रात प्रेमसिंह ने खाना नहीं बनाया उस समय से वीरमानी साहब का स्वभाव बदल-सा गया। उन्होंने नौकरों के व्यवहार के विषय में खान मार्केट से एक पुस्तक आठ डॉलर यानी एक सौ छब्बीस रुपये में खरीदी। वीरमानी साहब को पहले वाले नौकर के साथ हुए हादसे से एक सबक मिला था। हालाँकि वह मामला रफा-दफा तो हो गया, पर एक नौकर के पीछे हजारों पुलिस पर खर्च करना उन्हें बुरा लगा था। नाम भी अखबारों में उछल गया था। उस हादसे के बाद उन्होंने बेबी को भी समझाया था, नौकर को मारना भी हो तो गाल पर मारो, पेट में तो कभी नहीं। परन्तु बेबी तो शैतान है, वह मेरा कहा मानता ही नहीं। उस दिन प्रेम सिंह को फिर पेट में मार दिया। पता नहीं यह क्या करवायेगा, उनका। वीरमानी साहब को बेबी पर भी गुस्सा आता, पर जवान बेटा, जज्ब कर जाते। उन्होंने उस रात बेबी को फिर समझाया। डेढ़ घंटे तक उनका प्रवचन चलता रहा, छोटकी तो बीच में भाग गई, बड़की ने विरोध किया। बोली—'मैं तो इस प्रेम सिंह के बच्चे को मारूँगी। यह एक नम्बर का बदमाश है....मेरे कपड़े 'आयरन' करते समय गंदे हाथों को साफ तक नहीं करता। आखिर गंदे कपड़ों में पार्टी में लोग क्या कहेंगे? उस दिन डॉली उसपर हँसने लगी थी। उस समय तो मेरा मन किया कि प्रेम सिंह को कच्चा ही चबा जाऊँ!' वीरमानी साहब तब चुप रह गये थे। दूसरे दिन उन्होंने वह किताब खरीदी—'हाऊ टु टेम हाउसहोल्ड सरवेंट्स'। उन्होंने उस किताब का पूरा पारायण किया। शुरू से अंत तक। जरूरी लाइनों पर उन्होंने पेंसिल से निशान लगाया। इतनी मिहनत से उन्होंने कोई भी किताब नहीं पढ़ी थी। परीक्षा के दिनों में तो वह किताब पढ़ते नहीं थे। वैसे उन्होंने पढ़ा था। फार्म हाउस खरीदा तो मजदूरों से निबटना पड़ा। उस समय उन्होंने पूरा मार्क्सवाद पढ़ डाला। 'भारत में मजदूर आन्दोलन', 'रूस में मजदूर आन्दोलन और क्रांति', 'भारत का गदर' आदि कई पुस्तकें उन्होंने छान मारीं। वे अक्सर बहसों में भाग लेते। बड़े-बड़े होटलों में सेमिनार अटेंड करते। मजदूरों के विषय में बढ़-चढ़कर वकालत करते। लोग उनकी दलीलों के कायल हो जाते। एक बार तो 'पद्मश्री' के लिए उनका नाम भी प्रस्तावित किया गया था....।

× × × ×

एक दिन प्रेम सिंह कमरे में झाड़ू लगा रहा था कि अचानक मेज से उसका

हाथ टकरा गया और फूलों का गुलदस्ता फर्श पर चूर हो गया। वह कोई साधारण गुलदस्ता नहीं था। मालकिन को पच्चासवीं सालगिरह पर उनकी मम्मी ने भेंट किया था। उस गुलदस्ते को वह बहुत प्यार करती थीं। उनकी मम्मी ने उनके लिए खासतौर से लन्दन विजिट के समय बेडफोर्ड मार्केट से खरीदा था। वह गुलदस्ता टूटते ही मिसेज वीरमानी का पारा गर्म हो गया। वह प्रेम सिंह पर चीखने लगी। बेबी भी दौड़ पड़ा। उसने प्रेम सिंह को ऊपर उठाया और कहा—'स्साले जानते हो तेरी कमाई कितनी है ? दस जन्म तक इसका दाम तू वसूल नहीं कर पायेगा। हर महीने एडवांस लेता है, ऊपर से सामान तोड़ता है, अब आज तेरा सर तोड़ूंगा।' वीरमानी साहब को अचानक किताब की बात याद आई। बेबी ने जो कहा उसमें एक शब्द उन्हें मिल गया,—बोले,—'छोड़ दे इसे, अगले महीने इसकी पगार से इस गुलदस्ते का दाम काट लेंगे।'

'पर, पापा इसकी पगार ही कितनी है ?'

'कोई बात नहीं, हर महीने काटते रहेंगे, जब तक पूरा नहीं हो जाता....।'

बेबी चुप हो गया। वीरमानी साहब ने रहस्यमय ढंग से सब को शांत कर दिया था।

अगले महीने प्रेम सिंह को तनख्वाह मिली, तो वह चौंक पड़ा, मात्र दो सौ रुपये।

वीरमानी साहब ने कहा—'चार सौ रुपये गुलदस्ते का हर महीने कटेगा और चार सौ एडवांस लिया था....बाकी बचे दो सौ।'

प्रेम सिंह रोने लगा, 'मालिक हमारी तनख्वाह काटेंगे, तो हम भूखे मर जायेंगे!'

वीरमानी चीखे—'हरामी, फिर सामान क्यों तोड़ता है ? अब भूखों मरो या जो करो।'

प्रेम सिंह ने बहुत हाथ-पैर जोड़े, पर वीरमानी टस से मस नहीं हुए। प्रेमसिंह भारी कदमों से कमरे से वापस हुआ।

उस महीने प्रेमसिंह के परिवार के लिए जीना मुश्किल हो गया। चार परिवार को लेकर कहाँ जाता ? जेब में फूटी कौड़ी भी नहीं थी। दो सौ रुपये दुकान वाले को दे आया था। उधर वीरमानी साहब ने किचन में पहरा तेज कर दिया। चावल, दाल, आटा सब घर में रखवा दिया। पहले तो इनमें से थोड़ा बहुत इधर-उधर किया जा सकता था। और सच पूछिये तो इसी से उसका गुजारा होता था, नहीं तो एक हजार रुपये का क्या मोल ? पर, अब तो सब

खत्म हो गया। चाय बनाता, तो मालकिन सामने होती। खाना खाता तो मालकिन सामने होती। मालिक-मालकिन के लिए देशी-विदेशी व्यंजन बनते, उसे खिचड़ी बनाकर खाने का आदेश होता...। एक दिन वह दूध लाने गया हुआ था। अभी दूध भरा ही था कि वीरमानी साहब कार से निकले, उसे कार में बिठाया और सीधे कोठी। उसे कुछ समझ में नहीं आया। मालिक सीधे किचन में घुसे और गिलास से दूध नापा। दो गिलास दूध अधिक था।

वे चीखे—'रोज तो दस गिलास होता था, आज बारह कैसे ?'

प्रेम सिंह भयभीत हो गया। वीरमानी फिर चीखे—'दो गिलास दूध तू घर वालों को रोज पिलाता था, प्रेम सिंह !'

प्रेमसिंह फिर चुप रहा।

मालिक ने उसे तड़ातड़ तमाचे जड़ दिये। रनिया देखती रह गई थी। उस दिन वह डरा था, पर शरम से। उसकी चोरी पकड़ी गई थी। अगले महीने उसे तनख्वाह में से एक सौ रुपये दूध के लिए देना पड़ा। कुल तनख्वाह मिला एक सौ रुपया। दुकान वाले का उधार उस पर बढ़ता जा रहा था....। वह रोज उसके घर का चक्कर लगाने लगा। इसके बाद एक ही साथ दो घटनायें हुईं। एक साहब के परिवार में और दूसरी प्रेम सिंह के यहाँ। वीरमानी साहब की बड़ी लड़की अपने ब्वॉय फ्रेंड के साथ भाग गई और उधर प्रेम सिंह की बेटी प्रतिमा गर्भवती हो गई। वीरमानी साहब को बेटी के भागने पर जरा भी दुख नहीं हुआ। प्रेम सिंह बेटी की करतूत पर शर्म से गड़ गया। उसे काटो तो खून नहीं। उसने प्रतिमा को बहुत पीटा। लप्पड़-थप्पड़ से नहीं बना तो लात-घूंसे बरसाये। उसका दिल और दिमाग बैठ गया। रनिया उसे लाख रोकती, पर न जाने उसे क्या हो गया था। प्रतिमा ने उसके विश्वास का गला घोंट दिया था। उसकी बीबी ने रो-रोकर बुरा हाल कर लिया। वह बेजार रोती और कहती—'अब इससे शादी कौन करेगा ? इसे लेकर कहाँ मुँह छिपाऊँ ? मेरा तो दिल तभी से बैठा जाता था जब लाला रोज-रोज चक्कर लगाता था। उस कलमुँहे ने मेरे ही घर में डाका डाला। इस नन्हीं-सी जान को बर्बाद किया। भगवान उसे उठा ले। इसी जवानी में उसकी काया गले।' और ऐसी लाखों गालियाँ रनिया ने लाला को दिये, पर लाला ने मानने से मना कर दिया कि प्रतिमा के पेट में पल रहा बच्चा उसका है। प्रतिमा उसे देखती और अपना माथा दीवाल से पटकती। लाला जरा भी नहीं पसीजा और चलता बना।

अगले दिन प्रतिमा वीरमानी के चार मंजिल महलनुमा घर के सबसे उपर चढ़ी और कूद गई। पल भर में उसका दम टूट गया। प्रेम सिंह प्रतिमा की लाश

को बाहों में समेटे दिन भर बैठा रहा जैसे उसकी बेटी सो रही हो और वह उसे भेड़िया और बकरी वाली कहानी सुना रहा है। बचपन में वह प्रतिमा को यही कहानी सुनाता था जब वह जिद करती थी। उस कहानी में भेड़िया बकरी को मारकर खून पी जाता है। नन्हीं प्रतिमा कहानी सुनते-सुनते उसकी बाहों में सो जाती थी !

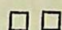
अगले दिन वीरमानी साहब ने प्रेम सिंह को बुलाया और कहा—'प्रेमसिंह, तुम यहाँ से चले जाओ। तुम्हारे जैसे लफाड़ी को मैंने घर में पनाह दी, तुम्हें खाना-कपड़ा दिया, पर तुमने हमारा घोर अपमान किया। तुम अपने कमरे में वेश्यागिरी करवाते रहे और मुझे खबर तक नहीं !'

प्रेमसिंह का चेहरा गुस्से से लाल होने लगा। अभी कल ही उसकी बेटी मरी थी, पर वह अभी भी उसकी लाश उठाये था। उसने बेटी को दफना तो दिया था, पर वह लाश की तरह उसके हाथों में पड़ी थी। उस दिन वह बेखौफ था। उसे मालूम था उसकी बेटी अभी भी उसे पुकार रही है, उसे बुला रही है, उसके पास हँस रही है, खिलखिला रही है, एक कली के समान मचल रही है। वह भोली, नन्हीं-सी जान उसे पापा, पापा कहकर उसे अपने पास बुला रही है। वह चीखा—'वीरमानी, होश में बात करो। मेरी बेटी पर कीचड़ उछालते शर्म नहीं आती, बेशर्म। वह तो कज्जल थी, निर्मल थी। उसने अपनी लाज रख ली। मेरी लाज रख ली। गंगा मैया में गंदगी डाल देने से गंगा अपवित्र तो नहीं हो जाती। वह उतनी ही निर्मल रहती है। पर, तू अपना मुँह तो देख, कुत्ते तेरी बेटी सौ लौंडों से गुल गपाड़ा करती थी और आज न जाने किस गली में घूम रही है !' वीरमानी ने प्रेम सिंह का यह रूप कभी नहीं देखा था। वह तो उसे बिल्ली समझते थे। जरा घुड़का, म्याऊँ ! जरा डाँटा—'जी साब !', पर आज तो प्रेम सिंह कोई और प्रेम सिंह था। उसकी नसें तनी थीं, उसके होंठ गुस्से से काँप रहे थे, उसका शरीर शेर की तरह बलिष्ठ और फुर्तीला हो गया था। वीरमानी ने जैसे-तैसे कहा—'हरामी मुझी को आँख दिखाता है, मेरी बेटी को गाली देता है....।'

बेबी और मिसेज वीरमानी दौड़ पड़े। बेबी ने हॉकी स्टिक उठा लिया और प्रेम सिंह पर चलाया, पर प्रेम सिंह आज सबकुछ भूल गया था। उसमें न जाने कहाँ की फुर्ती आ गई थी। उसने बेबी को हाथों में उठाकर घुमाकर फर्श पर बजाड़ दिया। बेबी दर्द से तड़पने लगा। वीरमानी टेलीफोन की ओर लपके। प्रेम सिंह ने चोंगा झपट लिया और तड़ातड़ चमाटे वीरमानी के गाल पर पड़े। वह गुस्से में चीख रहा था—'स्साले तुम सब हत्यारे हो। तुम्हारे कारण

मेरी नन्हीं-सी जान को मरना पड़ा। तुम लोगों ने मेरे परिवार को बर्बाद किया। आज सब हिसाब चुक्ता करूँगा। और काटो तनख्वाह....और उसने एक ही हाथ में दीवाल पर टंगी अनेकों पेंटिंग्स को फर्श पर पटक दिया। कुर्सी को हत्थे से उठाकर पकड़ा और घुमा कर चाँदी के फूलदान पर पटक दिया। कमरे में जोरदार आवाज गूँजी।

अगले क्षण पुलिस सामने खड़ी थी। वीरमानी भय और गुस्से से काँप रहे थे। प्रेम सिंह ने अदालत में अपना जुर्म कबूल कर लिया। मुकद्दमा लगातार पाँच वर्षों तक चलता रहा। रनिया हर बार अदालत इस आशा में जाती कि अबकी पेशी में रिहाई हो जाएगी। उसने मिहनत-मजूरी कर वकीलों की मुट्ठी गर्म की। हर बार फैसला होने से रह जाता। एक दिन उसे पता चला कि उसका पति अब नहीं लौटेगा। कभी नहीं आयेगा। उसने जेल से भागने का प्रयास किया था और मारा गया। सिपाहियों ने जेल के बूर्ज से देखा, कोई आदमी दीवार पर चढ़ने का प्रयास कर रहा है और उसे वहीं ढेर कर दिया। चार गोलियाँ उसे लगी थीं। रनिया खबर सुनकर रो भी नहीं पाई थी...। वह एक सपना देख रही थी....जो शायद सच था। मालिक राइडिंग से आये हैं और उनके हाथ में घोड़ों को पीटने वाला कोड़ा है। उसका पति उन्हें दूध देने गया है। अचानक दूध के गिलास से दूध छलक जाता है और मालिक का कोड़ा उसके पति की पीठ पर बरस पड़ता है। वह बेजार गिर पड़ता है। कोड़ा उसकी पीठ पर पड़ता है....एक, दो, तीन, और वह पति को बचाने दौड़ती है, तबतक धाँय की आवाज होती है और उसका पति ढेर हो जाता है।....वह जी-साब, जी-साब चिल्लाती रह जाती है, ठगी और हतप्रभ, गोद में दोनों बच्चे उसके स्तनों में अब भी लिपटे होते हैं....। हाँ एक सपना, जो सच से ज्यादा भयानक था! एक नहीं, तीन लोगों की जिन्दगी के साथ....।



कहानी

डॉ० शर्मा का पोस्टकार्ड

□ अरविन्द कुमार

शर्माजी एक शोध परीक्षा की मौखिकी में यहाँ आ रहे थे। वैसे बहुत दिन पहले से ही उन्हें इस शहर में बुलाने की बात चल रही थी। शोध परीक्षा की मौखिकी तो एक बहाना था। शर्माजी राजधानी में रहा करते थे, राजधानी के ही एक मशहूर विश्वविद्यालय में प्राध्यापक थे और देश के एक उभरते हुए आलोचक—इन नाते उनका किसी भी छोटे कस्बे या शहर में आना अपना एक महत्व रखता था। वैसे पिछले कुछ वर्षों से देखा जा रहा था कि शर्माजी को अपने-अपने शहरों में बुलाने की एक होड़-सी हो गयी थी। जिस भी शहर में उनके पाँव उतरते, लोगों में एक हरकत आ जाती—उनकी परेशानी देखकर ही आभास हो जाता कि जरूर यहाँ शर्माजी आ रहे होंगे या आए होंगे।

शर्माजी का इस शहर में आना लगभग एक हफ्ते पहले ही निश्चित हो गया था। उनसे इसके लिए काफी दिनों से पत्राचार चल रहा था और एक दिन जब शर्माजी की स्वीकारोक्ति का पोस्टकार्ड आ गया तब इस खुशी में कई लोग झूमते लहराते देखे गए थे। कोई मामूली आदमी होता तो उसके लिए यह खुशी थोड़े ही होती पर यहाँ तो सवाल शर्माजी का था। सिर्फ शर्माजी का साथ या उनसे एक-दो वाक्य बोल लेना अपने को धन्य बना लेना था। क्या पता, कहीं शर्माजी ने गलती से भी किसी लेख में उनका नाम ले लिया तो देश की मशहूर पत्रिकाओं में वे देखते-देखते छा जाएँगे। तब भला इस शहर में उनसे लगने की कोई हिम्मत भी कर सकेगा। यह कोई साधारण बात थोड़े है, यहाँ तो बड़े-बड़े लोग शर्माजी के पीछे सिर्फ इसलिए लगे रहते हैं कि वे घूमकर उनकी ओर देखें और आत्मीयता के कुछ वाक्य कह दें। शर्माजी अपने कलम के इतने धनी थे कि एक ही वाक्य में किसी को खारिज कर देना या स्थापित कर देना उनके बायें हाथ का खेल था। शायद इसीलिए शर्माजी से लोग डरते भी थे। शर्माजी ऐसा पहले कई बार कर चुके थे जब उन्होंने कई समकालीनों को बारी-बारी से खारिज कर किसी छाया या चमत्कार के ऊपर अपना हाथ रख दिया था। लोगों को अपने कार्यों से चौंकाना शर्माजी की आदत थी।

तो इस शहर में शर्माजी के आने की खबर से कई लोग अपने-अपने बिलों

से बाहर निकल आए थे और इस बात की तैयारी में लग गए थे कि किस तरह उनकी अगवानी की जाए। खैर यह बहस भी एक दिन रुक गयी थी और शर्माजी के आने का दिन चला आया था। शर्माजी शाम की गाड़ी से आ रहे थे।

गाड़ी के निर्धारित समय से एक घंटे पूर्व ही डॉ० प्रसाद, डॉ० सिंह, डॉ० कुमार तथा प्रो० सिन्हा स्टेशन जा पहुँचे ताकि आखिरी समय में कोई हड़बड़ी न हो। वे इत्मीनान से डॉ० शर्मा का स्वागत करना चाहते थे।.... स्टेशन पहुँचते ही डॉ० सिंह पूछताछ कार्यालय की ओर लपके, पर वहाँ किसी को न पाकर वापस लौट आए। 'पूछताछ कार्यालय में तो कोई है ही नहीं, न ही कहीं कुछ लिखा है।' उन्होंने कहा।

डॉ० प्रसाद बोल पड़े, 'क्या जमाना आ गया, कहीं कोई बैठता ही नहीं, खाक पूछताछ करेगा कोई।'

'क्या कीजिएगा, सब जगह तो यही हो रहा है। आप ही बताइए काम कहाँ हो रहा है। किसी भी दफ्तर में पूरे समय बैठता है कोई अपनी सीट पर'। सिन्हा साहब ने कहा।

'यह प्रान्त इतना गया-गुजरा है कि बाहर का कोई व्यक्ति यहाँ एक बार आ जाय तो दुबारा यहाँ आने का नाम न ले।'

'हर जगह की कमोबेश यही स्थिति है, कुमार साहब। जिस देश की राजनीति की ही कोई जमीन न हो, वहाँ की जनता में अनुशासन कहाँ से पैदा होगा।' डॉ० सिन्हा बोल पड़े।

और कुछ देर बाद डॉ० सिंह फिर पूछताछ कार्यालय की ओर लपके थे—'देखता हूँ, कोई आया या नहीं।'

'देखिए, शायद कुछ पता चले।' डॉ० कुमार ने कहा। और इस बार डॉ० सिंह मुस्कुराते हुए लौटे—'कोई है तो नहीं, पर लिखा है कि गाड़ी एक घंटे देर से चल रही है।'

'चलिए, एक ही घंटे देर से चल रही है, नहीं तो कोई ठिकाना है आजकल।' कुमार साहब ने कहा।

और तब चिन्तित मुद्रा में प्रसादजी ने सिन्हा साहब से कहा, 'शीला इंतजार कर रही होंगी, शर्माजी के ठहरने का इंतजाम करने में सुबह से ही व्यस्त हैं।'

'तो शर्माजी आपके साथ ठहर रहे हैं?' डॉ० सिन्हा ने पूछा।

'जी हाँ, सर।'

'जहाँ भी वे ठहरना चाहेंगे, ठहर जाएँगे। वैसे मेरे यहाँ भी कोई दिक्कत नहीं होगी उनको। और फिर ठहरना तो एक ही जगह न होगा।'

प्रो० सिन्हा की ये बातें डॉ० प्रसाद को शायद अच्छी नहीं लगी थीं। उनका चेहरा उतर गया था।

'किस सोच में पड़ गये प्रसाद जी। मैंने कहा न कि शर्माजी यदि आपके यहाँ ठहरेंगे मुझे जरा भी दुख नहीं होगा। वे हमारे शहर में आ रहे हैं तो वे मेरे यहाँ ठहरें या आपके यहाँ, बात बराबर है।' सिन्हा जी ने कहा।

तभी सिंह साहब ने लगभग कूदते हुए कहा—'ठहरना तो उन्हें मेरे यहाँ चाहिए। मैं उनका सीधा शिष्य हूँ।'

तभी गाड़ी के आने की सूचना हो गयी थी और इस बातचीत के क्रम को भंग कर प्रसाद जी, सिन्हा जी, कुमार साहब और सिंह साहब अपनी-अपनी जगहों पर सतर्क हो गए थे। डॉ० सिंह प्लेटफार्म के किनारे जाकर दूर की पटरियों की ओर उचक-उचक कर देखने लगे थे, उन्हें लग रहा था कि कैसे गाड़ी आए और शर्माजी नीचे उतरें। खैर, तभी गाड़ी आ गयी थी और शर्माजी की खोज में वे लोग डब्बे-डब्बे दौड़ने लगे थे और जब शर्माजी उतरे थे तो सिंह जी ने उन्हें प्रणाम करते हुए आगे बढ़कर उनका सूटकेस उठा लिया था। शर्माजी को संकोच हुआ था—'अरे-अरे, यह क्या कर रहे हैं, लाइए दीजिए मुझे।'

'नहीं डॉ० साहब, यह तो मेरा फर्ज है। आप मेरे मेहमान हैं तो क्या मैं आपके लिए इतना भी नहीं कर सकता।' और सिंह साहब सूटकेस लिए हुए आगे चल पड़े थे।

'लगता है, आपको बहुत इंतजार करना पड़ा।'....शर्माजी ने कहा।

'नहीं-नहीं, क्या कह रहे हैं आप डॉ० साहब, ऐसा मौका तो कभी-कभी ही न आता है।' सिंह जी बोल पड़े।

'अरे भाई, सिन्हा साहब, कुमार साहब और प्रसाद जी को नहीं देख रहा हूँ।' शर्मा जी ने पूछा।

तभी सिन्हा साहब, कुमार साहब और प्रसाद साहब ने आकर शर्मा जी को अभिवादन किया था—'आपके लिए हम काफी देर पहले से ही स्टेशन पर हैं।'....

शर्मा जी ने मुस्कराते हुए कहा, 'शुक्रिया'। 'रास्ते में कोई दिक्कत तो नहीं हुई ?' सिन्हा साहब ने पूछा।

'नहीं-नहीं, कोई दिक्कत नहीं हुई। आप सबके पत्र मुझे मिल गये थे, इसलिए मैंने समय पर आरक्षण करवा लिया था।'....फिर उन्होंने थोड़ा रुक कर पूछा' 'आपलोग कैसे हैं ? सब ठीक-ठाक हैं न ?'

'जी हाँ, सब आपकी कृपा है।' सिंह साहब बोल पड़े। मेरी कृपा क्या

होगी भाई, आपसे तो एक जमाने के बाद मिलना हो रहा है।' अब तक सभी लोग स्टेशन से बाहर निकल आए थे। शर्मा जी ने पूछा, 'अब कहाँ चलना है ?'

'मेरे यहाँ सारी व्यवस्था हो गयी है, आपको तो मैंने लिख ही दिया था कि इस बार आपको मेरे ही यहाँ ठहरना है। शीला आपका इंतजार कर रही होगी।' प्रसाद जी बोल पड़े।

'वह तो ठीक है पर मैं चाहता था कि इस बार सिन्हा साहब के साथ ठहरूँ। बहुत दिनों से उनसे बातें करने की इच्छा होती रही है। क्यों सिन्हा साहब आपके यहाँ जगह नहीं है क्या ?' शर्मा जी ने प्रसाद जी के आग्रह को किनारे करते हुए कहा।

'क्यों नहीं, बहुत जगह है। मैंने पहले इसलिए नहीं कहा कि कहीं प्रसाद जी को बुरा न लग जाए।' सिन्हा साहब ने कहा।....'नहीं डॉ० साहब, इसमें बुरा लगने की कोई बात नहीं है।....पर....।'

'तो चलिए चला जाए।' और प्रसाद जी की बात बीच में ही काटते हुए सिन्हा साहब शर्मा जी के साथ रिक्शे पर बैठ गए थे।

प्रसाद जी का चेहरा उदास हो गया था और उन्होंने फिर एक भी शब्द नहीं कहा। सिंह साहब के साथ रिक्शे पर बैठकर वे चुपचाप सिन्हा साहब के निवास की ओर चलते गए, पर डॉ० सिन्हा के यहाँ पहुँच कर उन्होंने एक बार फिर और आजमाने की कोशिश अवश्य की। उन्होंने सिन्हा साहब से कहा—'सर, बेकार ही आपको तकलीफ हो जाएगी। मेरे यहाँ तो पूरा घर ही खाली था, डॉ० साहब को वहाँ कोई दिक्कत नहीं होती।'

'तो मेरे यहाँ क्या दिक्कत होगी इनको, क्या कह रहे हैं—आप प्रसाद जी।'

'नहीं सर, मेरा मतलब यह नहीं है, मैं तो....' 'दरअसल शीला जी ने सारी व्यवस्था की होगी, इसलिए कह रहे हैं प्रसाद जी। उनको कैसा लगेगा !' कुमार साहब ने प्रसाद जी की ओर से बोलते हुए कहा।

उनकी बात काटते हुए सिन्हा साहब ने कहा, 'अब रहने दीजिए इस प्रसंग को। मैं शीला को समझा दूँगा।'

इस पर प्रसाद जी ने कहा, 'अच्छा सर, रहने की बात छोड़ दीजिए पर कल शाम के खाने पर अगर मैं डॉ० साहब को बुलाना चाहूँ तो आपको कोई एतराज तो न होगा ! दिन में तो विश्वविद्यालय के काम से ही छुट्टी नहीं मिलेगी।'

'इस पर मैं क्या कहूँ, खुद डॉ० साहब से पूछ लीजिए।' और तब प्रसाद

जी ने धीरे से शर्मा जी से कहा, 'डॉ० साहब कल रात का खाना मेरे यहाँ रहेगा, आपको कोई दिक्कत तो नहीं होगी।'

'नहीं-नहीं, दिक्कत क्या होगी।' फिर उन्होंने सिन्हा साहब की ओर घूमकर कहा, 'क्यों सिन्हा साहब, कल रात का खाना प्रसाद जी के यहाँ है, चलना है न ?'

'हाँ सर, आपका खाना भी कल मेरे ही यहाँ है।' प्रसाद जी ने सिन्हा साहब से कहा, फिर सिंह साहब और कुमार साहब की ओर घूम कर बोले, 'ये लोग भी रहेंगे।'

और अगले दिन रात के खाने पर जब शर्मा जी, सिन्हा साहब, सिंह साहब और कुमार साहब उनके यहाँ पहुँचे तो वे अपने बरामदे में ही थे, साथ में पत्नी भी थीं। उन्होंने शर्मा जी से अपनी पत्नी का परिचय कराते हुए कहा, 'आप हैं शीला....और आप डॉ० शर्मा, हिन्दी के जाने-माने आलोचक।'

तभी कुमार साहब ने कहा, 'शीला जी का एक और परिचय है। ये कहानीकार हैं, इन्होंने कुछ अच्छी कहानियाँ लिखी हैं।'

'अच्छा, आप कहानियाँ लिखती हैं, चलिए इसी बहाने एक कहानीकार से मुलाकात तो हुई। आपकी कहानी कहीं प्रकाशित भी हुई है क्या ?' शर्मा जी ने पूछा।

शीला जी ने सकुचाते हुए जवाब दिया, 'अभी कहीं छपी तो नहीं है, पर रचना गोष्ठियों में कुछ कहानियों का पाठ हुआ है। अब सोच रही हूँ कि कुछ कहानियों को पत्रिकाओं में भेजूँ।'

'हाँ, हाँ, जरूर भेजिए, लोगों के सामने जब तक कहानी आएगी नहीं, तब तक किसी को उसके बारे में पता कैसे चलेगा।'....और फिर उन्होंने सबकी ओर मुखातिब होकर कहा—'अरे हाँ भाई, गोष्ठी का प्रसंग आया तो एक बात याद आ गयी। राजधानी में ही सुना कि आप लोगों ने कोई गोष्ठी की थी पिछले दिनों।'

'हाँ, उसी में तो शीला की कहानी पढ़ी गयी थी। सक्सेना आए थे उसमें। आपको नहीं बुला पाने का मुझे अफसोस है।'....

'अरे नहीं, इसमें अफसोस की क्या बात है। और मैं वैसे भी कम ही निकल पाता हूँ।'

....और थोड़ा रुक कर उन्होंने शीला जी की ओर घूमकर कहा, 'क्यों शीला जी, गोष्ठी वाली कहानी है क्या अभी आपके पास।',

'जी हाँ, है।'

'तो लाइये, हमलोग सुन ही लें, तब खाना होगा।'

....और शीला जी ने जब अपनी कहानी खत्म की तो शर्मा जी ने कहा, 'अच्छी कहानी है, फिर भी अभी आपको मेहनत करने की जरूरत है। आप लिखना जारी रखिए, लिखते-लिखते ही आदमी मंजता है। पहली ही बार में कोई थोड़े ही यादगार कहानी लिख देता है।'

तभी सिन्हा साहब ने कहा, 'यही तो मैं नये लोगों से कहा करता हूँ कि लिखते जाओ, पर आज की पीढ़ी में यही गड़बड़ी है कि कहानी छपी नहीं कि चर्चा में आ जाने का भूत सवार हुआ। मेहनत कोई नहीं करना चाहता।'

'इसी से कहानी का भविष्य चौपट हो रहा है।' प्रसाद जी बोल पड़े, फिर उन्होंने सबकी ओर मुखातिब होकर कहा 'चला जाए, खाना ठंडा हो रहा है।'

प्रसाद जी ने खाने का काफी बढ़िया इन्तजाम किया था।....पुलाव, चिकन, मटरभरी कचौड़ियाँ, दही बड़ा और छेना पायस। सिंह साहब की नजर जैसे ही इन चीजों पर पड़ी, उन्होंने कहा, 'मजा आ गया।'

'अरे भाई, बिना खाए ही मजा आ गया, सिंह साहब का भी जवाब नहीं।' सिन्हा साहब बोल पड़े।

'डाक्टर साहब, मुझे ऐसी चीजों को देखकर रुका नहीं जाता है। मैं तो शुरू कर रहा हूँ।' सिंह साहब ने यह कहते हुए कचौड़ियाँ अपने मुँह में डाल लीं।

'भई, खाने का मजा तो सिंह साहब के साथ ही है, कुमार साहब तो बोर कर देते हैं। थोड़ी ही देर में हार जाते हैं।' प्रसाद जी ने कहा।

'क्यों भाई कुमार साहब, क्या सोच रहे हैं, चलिए शुरू हो जाइए।' शर्माजी ने कहा।

और फिर सिन्हा साहब ने खाते हुए कहा, 'वाकई अच्छा बना है। आप लोग शीला को इसके लिए धन्यवाद दीजिए, जिसने इतनी मेहनत की है।'

'हाँ भाई, खाना तो सचमुच अच्छा बना है। तो शीला जी कहानीकार के साथ-साथ अच्छी रसोइया भी हैं। यह काम भी कम लगन का नहीं है।' शर्माजी बोल पड़े, 'क्यों भाई कुमार साहब, आप कुछ नहीं बोल रहे हैं?'

'मैं मन ही मन तारीफ कर रहा हूँ, और धन्यवाद भी दे रहा हूँ।' शीला जी की बगल में बैठे कुमार साहब ने कहा।

'गजब के कंजूस आदमी हो यार, तुम्हारे पास इतने शब्द भी नहीं हैं कि कुछ कह सकते?....महान हो तुम।' सिन्हा साहब बोल पड़े।

तभी शर्माजी ने प्रसाद जी से पूछा, 'तब प्रसाद जी, आजकल आप क्या-क्या लिख रहे हैं? सुना है कि कविताओं पर काम कर रहे हैं?'

'कई योजनाएँ हैं मेरे दिमाग में डॉ० साहब, इस साल के अन्त तक मैं तीन-चार चीजें अवश्य दूँगा।'

'यह तो आप कब से कहते आ रहे हैं। पर समझ में नहीं आता कि आप लिखते क्यों नहीं हैं।'

'इस बार मैं जरूर कुछ दूँगा, आप देख लीजिएगा।'

'यह तो हम लोग कब से सुन रहे हैं। क्यों शीला जी, आप इन पर कोई दबाव नहीं डालती हैं ?'

'....मैं तो जब भी कहती हूँ तो कहते हैं कि लिखने के लिए बहुत पढ़ना होता है।' शीला जी ने मुस्कुराते हुए कहा।

'....तो यह बात है।'

'नहीं डॉ० साहब, मेरा मतलब यह नहीं है।....लेकिन क्या बिना पढ़े लिखा जा सकता है ?'

'तो कौन कहता है कि मत पढ़िए, लेकिन यह भी सोच लीजिए कि पढ़ने का कभी कोई अन्त नहीं है। हर रोज नयी किताबें, नये सिद्धान्त, नयी मान्यताएँ आती जा रही है और उस हिसाब से तो कभी कोई कुछ नहीं लिख सकता।'

'पर जब तक कोई नयी स्थापना नहीं दी जा सके, तब तक लिखने का फायदा ? वही दुहराव ही न।'

तभी सिंह साहब ने हस्तक्षेप किया, 'अरे भाई आप लोग जरा टेबुल पर भी ध्यान दें। बातें भी करते जाएँ और चीजों को उदरस्थ भी करते जाएँ।'.... सिंह साहब की इस बात पर सभी लोग हँस पड़े....और सचमुच बहस का सिलसिला रुक गया।

और जब खाना खत्म हुआ तो सिंह साहब ने डकारते हुए कहा, 'प्रसाद साहब, हम लोग वाकई प्रसन्न हुए, इसलिए आप दोनों को हमारा धन्यवाद। भविष्य में भी स्नेह बनाए रखने की कृपा करेंगे।'

और तब सारे लोग पुनः हंस पड़े। वापस लौटते हुए शर्माजी ने सिन्हा साहब ने कहा, 'जानते हैं डॉ० साहब, कुछ लोगों को खिलाते-पिलाते रहने की एक आदत-सी भी होती है। और कुछ नहीं तो खिला-पिला दो।....मुझे तो शीला कहीं ज्यादा गंभीर लड़की लगती है।'

'आदमी ये समझदार हैं, मैंने इनको एक बार एक गोष्ठी में सुना है, इसलिए आप लोग मिलकर इन्हें प्रेरित कीजिए कि ये कुछ लिखें।'

'ये लिखें तब तो, इन्होंने आज तक अपनी जिंदगी में कोई रचनात्मक कार्य

तो किया नहीं ।....सिर्फ लोगों को अपने यहाँ ठहरा कर और उन्हें खिला-पिला कर अपने अहं की तुष्टि कर लेते हैं ।'

सिन्हा साहब की यह बात कुमार साहब को अच्छी नहीं लगी—खाइए भी और शिकायत भी कीजिए और वह भी बेवजह । सिन्हा साहब की ओर घूमकर उन्होंने कहा, 'डॉ० साहब, आज कौन नहीं चाहता अपने अहं की तुष्टि ! सभी तो वही करते हैं आजकल । अगर ऐसा ही था तो हमें यह खाने के पहले सोचना चाहिए था ।'

'आप पक्ष क्यों ले रहे हैं ।' सिन्हा साहब बोल पड़े ।

'पक्ष नहीं ले रहा हूँ, सही बात कह रहा हूँ ।' कुमार साहब ने इस बार शर्मा जी की ओर देखते हुए कहा ।

कुमार साहब की इन बातों ने माहौल को थोड़ा बदल दिया । डॉ० शर्मा को लगा कि यह विवाद कहीं दूसरा रूप न ले ले, इसलिए उन्होंने बात को बदलना चाहा—'अरे भाई सिंह साहब, अपना घर नहीं दिखाइएगा ? इधर ही न कहीं है ?'

'क्यों नहीं, मैं तो इसीलिए नहीं ले चल रहा था चूँकि काफी रात हो गयी है और आप शायद अब आराम करना चाहें ।' 'नहीं-नहीं, चलिए । कम से कम देख तो लूँ कि आप कैसे रहते हैं । आपके मित्र पूछेंगे तो कुछ तो बताना पड़ेगा ।'

और फिर सभी लोग सिंह जी के निवास की ओर मुड़ गये थे । और इस तरह वह प्रसंग बदल गया था ।

और अगली सुबह जब शर्मा जी राजधानी वापसी के लिए स्टेशन आए तो रिक्शे से उतरते ही उनकी नजर प्रसाद जी और शीला जी पर पड़ी ।....'अरे आप लोग ?' उन्होंने पूछा, 'कहीं जा रहे हैं क्या ?'

'नहीं, सोचा आपको विदा कर दें ।' प्रसाद जी ने कहा ।

'बेकार में इतनी तकलीफ की और फिर ये लोग तो थे ही ।'....उन्होंने सिन्हा साहब, सिंह साहब और कुमार साहब की ओर इशारा किया ।

'इसमें तकलीफ की कौन-सी बात है । आप रोज थोड़े ही आते हैं—हमारे शहर में ।' इस बार शीला बोल पड़ीं ।

और फिर सभी लोग साथ ही साथ प्लेटफार्म पर गए थे । गाड़ी चूँकि यहीं से खुलती है, इसलिए उन्हें गाड़ी का इन्तजार नहीं करना पड़ा था, गाड़ी लगी हुई थी । शर्मा जी अपनी आरक्षित सीट पर जा बैठे थे, तथा अन्य लोग खिड़की के बाहर ही खड़े रहे थे ।....तभी प्रसाद जी ने एक पैकेट शर्मा जी की तरफ

बढ़ाते हुए कहा, 'इसे रख लिया जाए, यहाँ की मशहूर मिठाई है, बिल्कुल शुद्ध घी की बनी हुई, वहाँ बच्चों के लिए कुछ तो चाहिए।'

शर्मा जी हिचकिचाये, 'इसकी क्या आवश्यकता थी। आपने पहले ही इतनी खातिरदारी की है, और अब यह....।'

'अरे रख लीजिए, यह इस शहर की निशानी है। और फिर इतने प्रेम से ये लोग ले आए हैं। कुछ इनका हक भी तो बनता है।'....कुमार साहब ने शर्मा जी की हिचकिचाहट तोड़ी। और तब शर्मा जी ने धीरे से वह पैकेट अपनी सीट पर रख लिया था।

और फिर गाड़ी के खुलने का समय हो गया था। सिन्हा साहब, सिंह साहब, कुमार साहब, प्रसाद जी और शीला जी ने हाथ जोड़ दिये थे। दूसरी तरफ शर्मा जी भी हाथ जोड़कर खड़े हो गए थे....'भाई....आपलोगों का यह स्नेह हमेशा याद रहेगा। अच्छा परिवार बना लिया है, आप लोगों ने। यह बड़े शहरवालों के लिए सीखने की चीज है।'

तभी प्रसाद जी ने कहा, 'डॉ० साहब, अगली बार आप जब भी आएँ, हमारे यहाँ ही ठहरें। यह हमारा आग्रह है।' 'हाँ डॉ० साहब, हमें बेहद खुशी होगी।' शीला जी बोल पड़ीं।

शर्मा जी मुस्कुराने लगे, 'अरे भाई, आगे की बात कौन जानता है। फिर भी आपलोगों का निमंत्रण याद जरूर रहेगा।'

तभी सिंह साहब ने लगभग टोकते हुए कहा, 'अगली बार जूठन मेरे यहाँ भी गिरना चाहिये।'

'अच्छा भाई, जब समय आएगा देखा जाएगा।....अभी से मैं इस पर क्या कहूँ?'

और इसके कुछ ही दिन बाद डॉ० शर्मा का एक पोस्टकार्ड कुमार साहब के यहाँ आया था, जिसमें उन्होंने उन सबको याद करते हुए लिखा था कि वे अब भी उन सबकी आत्मीयता को नहीं भूल पा रहे हैं और भविष्य में जब कभी मौका मिलेगा, वे वहाँ दुबारा आना चाहेंगे।....पर इसी के साथ एक संदेश भी था कि वे शीला जी से मिलकर कोई कहानी उन्हें भिजवा दें, ताकि राजधानी की किसी पत्रिका में उसका इस्तेमाल किया जा सके।

जिस दिन से कुमार साहब ने डॉ० शर्मा के इस पोस्टकार्ड का जिक्र औरों से किया है, उसी दिन से इस शहर में एक चर्चा जोरों पर है कि इस शहर के दूसरे कहानीकार क्या अब नहीं रहे, जो शर्मा जी को यही नाम सूझा! उन्हें डॉ० शर्मा जैसे आलोचक से कम से कम यह उम्मीद तो नहीं ही थी। इस

पोस्टकार्ड से सबसे अधिक चोट उन्हें पहुँची है, जो अब तक अपने को डॉ० शर्मा के सबसे करीब समझ रहे थे और जो ये मानकर चल रहे थे कि अपने अगले किसी लेख में डॉ० शर्मा जरूर उनके साहित्यिक योगदान की चर्चा करेंगे।.... आखिर उनकी तरफ से कौन-सी ऐसी गड़बड़ी हो गयी जिसका यह फल उन्हें भुगतना पड़ रहा है।....पर इससे क्या, वे निराश अभी भी नहीं हैं। वे अभी से ही इस बात की छानबीन में लग गए हैं कि कैसे डॉ० शर्मा को दुबारा बुलाने का कोई रास्ता निकाला जाए। और उन्हें इसका विश्वास भी है कि कोई न कोई बहाना एक दिन अवश्य उनके हाथ लगेगा और वे एक बार फिर डॉ० शर्मा के साथ होंगे।

□□

न लिखने का संकट कहाँ से उपजता है

□ अनिल सिन्हा

हिन्दी साहित्य में रचना, रचना-विधा, रचना कर्म आदि को लेकर पिछले कुछ समय से विचित्र तरह की धारणाएँ प्रचारित की जा रही हैं। बहुत गौर से ऐसे प्रचार पर ध्यान दें तो वह एक भदेसपन को छूती हुई भी दिखाई देती हैं। दुनिया में प्रगति और राजनीतिक परिवर्तनों का कुछ ऐसा दौर पिछले दिनों रहा कि ऐसे प्रचार के लिए हिन्दी के कुछ मूढ़ राजनीतिक व साहित्यिक विचारकों को सोवियत संघ में हुई पिछली घटनाओं से एक राजनीतिक और सतही सहारा भी मिल गया। अपनी राजनीतिक समझ दिखाने और कहीं-न-कहीं वर्तमान व्यवस्था का पोषण करने का इससे अच्छा अवसर भी उन्हें इस शताब्दी में मिल नहीं सकता था। ऐसे प्रचार का असर संभवतः रचना कर्म पर भी कहीं-न-कहीं देखने को मिल रहा है। ऐसी स्थिति में देखना यह है कि हिन्दी में पठन-पाठन, रचना कर्म आदि को लेकर आज जो प्रचार किये-कराये जा रहे हैं उनके पीछे कौन-सी मानसिक व व्यावहारिक कारक स्थितियाँ हैं।

एक तरफ स्थिति यह है कि कभी कविता और कभी कहानी के मरने और अप्रासंगिक होने का प्रचार किया गया, कभी कविता की कहीं से वापसी करायी गयी। कोई गुट कहानी को 'पेटी बूर्ज्वा' विधा घोषित कर रहा है, कोई रचनाओं में उत्तर आधुनिकता काल की बात कह रहा है, कोई नुक्कड़ और मंच नाटकों के झमेले में फँसा है कोई कह रहा है कि हिन्दी आलोचना और समीक्षा आज रचनाकारों को दिशा देने में समर्थ नहीं है, कभी कविता का उजाड़-ही-उजाड़ देखा गया, कुछ लोगों को ग्रामीण क्षेत्रों से जुड़े एक विशाल रचनाकार-समुदाय की कविताओं, नाटकों, गीतों, कहानियों आदि में केवल नारे ही दिखायी पड़े, उन्होंने अभियान भी चलाया कि ऐसी रचनाएँ कलात्मक सौष्ठव से परे हैं, कुछ लोगों का आरोप यहाँ तक आया कि हिन्दी समीक्षकों का एक ऐसा वर्ग भी है जिसका ध्यान ग्रामांचलों में रह रहे, रचना कर रहे रचनाकारों पर ही जाता है, नगर क्षेत्र के अधिसंख्य छोटे-बड़े रचनाकर्मियों को एक विपुल साहित्य में केवल नारेबाजी, सपाटबयानी, राजनीतिक परिदृश्य आदि ही दिखायी पड़ते हैं।

अब तो एक सुविधाजनक लेखक समुदाय और रचनात्मकता से विमुख और पस्त लोगों की जमात यहाँ तक कहने लगी है कि दृश्य मीडिया के सामने रचनाएँ

क्या टिक पायेंगी, रचनाकर्म के दिन अब गये—आदि-इत्यादि। इन्हीं कारणों से संभवतः स्थिति अब यहाँ तक आ पहुँची है कि रचना कर्म और पठन-पाठन से सम्पर्क रखने वाले, संगठनों में भागीदारी दिखाने वाले कुछ लोगों को छोटे-बड़े आकार-प्रकार के हर लेखन, टिप्पणियों आदि में कोई-न-कोई लेखकीय साजिश ही दिखाई देती है और इसी तरह की अनेक गुटबाजियाँ, बयान बाजियाँ या चिरकुटई ! लेकिन यह बहुत चिंताजनक स्थिति नहीं है क्योंकि हर युग और दौर में लेखन के क्षेत्र में कुछ लोग ऐसी हरकतें करने से बाज नहीं आते—उनके मनोरंजन और बौद्धिकता का स्तर यहीं आकर टिका रहता है। आज ऐसे लोग परेशानी केवल इस तरह से पैदा करते हैं कि कहीं-न-कहीं सत्ता की राजनीति से गठजोड़ कर वे जनपक्षधर, परिवर्तनकारी और बेहतर समाज के रास्ते बढ़ने वाले संस्कृतिकर्म की गति में बाधा डालते हैं।

वस्तुतः यह स्थिति वास्तविक रचना दृष्टि, रचनाकर्म, समीक्षाकर्म, पठन-पाठन, चिंतन, के भयानक वैचारिक दिवालिएपन की तरफ संकेत है। ये स्थितियाँ कहीं गहरे जाकर उस सांस्कृतिक संकट को स्पष्ट करती हैं जो संस्कृति-कर्म (पढ़ना-लिखना-सोचना, सार्थक गंभीर बहसों में जाना, समतामूलक समाज के निर्माण में रचनाकारों की भूमिका तय करना आदि-इत्यादि) को गंभीरता से नहीं लेने के कारण पैदा होते हैं।

हिन्दी में, पढ़ने-लिखने वालों को यह बात नागवार लग सकती है कि उनमें भी आज पठन-पाठन का एक सामान्य अभाव व अरुचि है। साहित्य के क्षेत्र में ही नहीं राजनीतिक रूप से सक्रिय लोगों में गंभीर अध्ययन की जगह मात्र अखबारी सूचनाओं का एक मकड़जाल फैला दिखाई देता है। सूचनातंत्र के इस छद्म ने उन्हें रचना कर्म के हर स्तर पर प्रभावित किया है और पढ़ने तथा सार्थक सोद्देश्य बहस से विमुख करता दिखाई देता है।

संभवतः ये ही कारण हैं कि आज रचनाकारों के एक वर्ग के सामने यह सवाल खड़ा होता है कि वह लिखे क्या क्योंकि जो लिखा हुआ, व्यवस्थित माध्यमों से सामने आ रहा है उसमें कचरा का हिस्सा ज्यादा है। कोई संपादक, कोई पाठक उससे गंभीर, सुविचारित लेख या रचना की माँग करता है तो वह घबड़ाया-सा पूछता है लिखें क्या, अब लिखने को रह क्या गया है, लिखने से क्या होता है आदि-इत्यादि। और दूसरी तरफ वह समयाभाव का बहाना बना कर कुछ लिख टालता रहता है।

वस्तुतः वैचारिक संकट का यह एक दिलचस्प नमूना है। लिखना चूंकि पढ़ना और मिहनत की माँग करता है राजनीतिक, सामाजिक विश्लेषण की

माँग करता है, रोज बदल परिप्रेक्ष्य और परिस्थितियों से तालमेल रखने, उन पर नज़र रखने, उनकी जनपक्षधरता या निजी स्वार्थ सिद्धि आदि को पहचानने की माँग करता है इसलिए लिखना निरंतर कठिन प्रतीत होता है और फिर लिखने से यानी अच्छा लिखने से माँगने की प्रक्रिया शुरू होती है। इसी वैचारिक संकट का नतीजा दीखता है कि लेखक कहे जाने वाले लोगों में गंभीर लिखने से बचने की प्रवृत्ति का विकास हुआ है, इसके लिए वे विभिन्न चालाकियों का इस्तेमाल करते हैं, अनेक व्यस्तताओं की दुहाई देते हैं लेकिन इन सबके पीछे यह खोजना दिलचस्प होगा कि कुछ लिखने में उनके सामने कितने संकट खड़े होते हैं। अगर वे वास्तविक स्थितियाँ लिखते हैं तो अनेक संस्थाओं और वर्तमान व्यवस्था का निषेध करते दीखते हैं जिनका खानिलाजा उन्हें उठाना पड़ता है। इसके विपरीत लेखन से उन्हें लेखक-समाज और पाठक ही रिजेक्ट कर देता है—एक तरफ कुआँ है दूसरी तरफ खाई !

लेकिन इसका एक दूसरा पक्ष भी है जो ज्यादा सार्थक और सही दिखायी देता है। रचना या सृजन का यह संकट, मुझे लगता है, रचनाकर्म के 'बेसिक्स' से बिलगाव, असंपृक्त रहने, परहेज रखने यानी रचनाकर्म के आडम्बर को कहीं-न-कहीं ओढ़े रहने का संकट है। इस तरह का बिलगाव वस्तुतः एक रचनाकार को सामान्य चेतना, अपने सामाजिक दायित्व व सामाजिक भूमिका से काट कर रख देता है। ऐसे रचनाकारों के लिए रचना उसकी निजी संपत्ति है, उसके गुट संगठन के लोगों के लिए मनोरंजन, आमोद-प्रमोद की चीज है, आपसी बहस का सुख है—एक ऐसी चीज़ जो उसे सम्भ्रांत बनाती है। एक सृजनकर्ता के लिए सम्भ्रांत होने की यह स्थिति उस सृजनकर्ता को उसकी वास्तविक सामाजिक भूमिका से काट कर रख देती है।

एक रचनाकार और उसकी रचनाएँ इस समाज की ही चीज हैं। समाज के उतार-चढ़ाव, परिवर्तन, मनुष्य-समर्थक और मनुष्य-विरोधी प्रवृत्तियाँ और उनके बीच चलने वाले संघर्षों के बीच, अनुभवों के आधार पर ही एक रचना जन्म लेती है चाहे वह किसी विधा में हो। इसी बात में यह सत्य भी छिपा हुआ है कि वह रचना समाज के प्रति अपने दायित्वों का निर्वाह करके ही वास्तविक सृजन की भूमिका में खड़ी हो सकती है, गरिमा प्राप्त कर सकती है। जबकि रचना की गरिमा इस बात में निहित है कि वह समाज को सुन्दर बनाने में, मनुष्योचित बनाने में, शोषण और दमन के विरुद्ध आम लोगों की चेतना विकसित करने में किस प्रकार और कितनी मदद करती है। यह भी कि वह

मनुष्य को उसकी स्वतंत्रता का कितना बोध कराती है। यहीं पर आकर एक रचना की सामाजिक भूमिका खुलती है।

सृजन और रचना के इस सामाजिक स्वरूप को संभवतः तभी बरकरार रखा जा सकता है या उस दिशा में बढ़ा जा सकता है जब रचनाकार समाज की आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों से अपने को रू-ब-रू रखे। यानी समाज के लिए एक जरूरी रचनाकार को सही सामाजिक, राजनीतिक परिदृश्यों, जनता के वैसे संघर्षों जिनमें मनुष्योचित समाज का उद्देश्य निहित हो,—का जानकार होना, उनकी संवेदनाओं को रचनात्मक धरातल पर महसूस करना भी जरूरी है वर्ना वह अपने काम में खरा नहीं उतर सकता। तब वह बहुत सीमित दायरे के विलासी लेखन में फंसा रह जायगा। यानी लेखन के 'वेसिक्स' से वह दूर ही रहेगा।

जाहिर है एक जरूरी रचनाकार के लिए अपने रचनाकर्म के माध्यम से इस सामाजिक भूमिका में आना एक चुनौती भरा काम है। एक तरह से उसे समय से पंजा मिलाते हुए आगे बढ़ना है। पर आज लेखकों का एक बड़ा समूह और आम तौर पर हमारे सामने आने वाला यह समूह समय से पंजा मिलाने के इस रचनात्मक कलाकर्म को राजनीति का मोहरा हो जाना मानता है। अपने बचाव में कई बार वह कहता हुआ पाया जाता है हम तो रचनाकार हैं हमें राजनीति से क्या लेना देना! इस व्राक्य में वस्तुतः उसका डर और अज्ञान दोनों छिपा हुआ है।

राजनीतिक समझदारी, सामाजिक चिंतन, मनुष्य की बेहतरी के लिए जनता द्वारा चलाये जा रहे संघर्ष के इलाकों, व सामान्य ग्रामीण क्षेत्रों के भ्रमण, वहाँ की वस्तु स्थिति का आकलन कर जब उससे रचना की अपेक्षा की जाती है तो उसे लगता है वह रचनात्मक कलाकर्म करने की बजाय राजनीतिक कर्म करने लगेगा। इस नासमझी और डर के बाद वह जिस रचना कर्म को अंजाम देता है, तमाम चालाकियों के बावजूद वह पकड़ा जाता है। आज के बहुसंख्यक लेखकों में क्या लिखें, अब क्या लिखा जा सकता है जैसी पस्ती के पीछे यही डर और अज्ञान काम करता दिखायी देता है। यह उसका डर और आडम्बर ही है जो उसे शराब में तो डुबोए रख सकता है, मार्क्वेज तथा विभिन्न हिन्दी रचनाकारों की बातें करने से थकने नहीं देता लेकिन वर्तमान मनुष्य-विरोधी समाज में किस तरह की रचना की जाय, कैसे लोगों तक पहुँचा जाय, आज क्या इस सत्ता को चुनौती देने कोई जनसमूह उठ रहा है, उसकी वास्तविक सांस्कृतिक माँग क्या है, वह किस मनुष्योचित समाज की माँग करते-करते अपना

खून बहा रहा है—इन्हें कैसे रचनाओं के केन्द्र में लाया जाय इसकी चिंता उनकी बातों में नहीं उभरती दिखायी देती है। डर और नितांत निजी आमोद-प्रमोद के आलोक में किस प्रकार बुद्धिजीवियों के चेतना के पंख सोए-बैठे दिखायी देते हैं इसके उदाहरणों के लिए हमें बहुत दूर जाने की जरूरत नहीं है, उन्हें हम अपने आसपास ही पा सकते हैं। लगता है इसीलिए आज लेखकों के बीच बार-बार यह बहस भी उठ खड़ी होती है कि उनकी रचनाओं का पाठक कहाँ है, है तो उसके पास रचनाएँ पहुँचायी कैसे जाएँ। लेकिन यह सवाल भी समाज की राजनीतिक स्थितियों से ही जुड़े हुए हैं और इसके लिए अलग प्रयासों व अलग राजनीतिक परिदृश्य की जरूरत है जिस पर अलग से ही विचार, बहस जरूरी है।

यहाँ हम इस आलेख को उपरोक्त चिंताओं के आलोक में कुछ इस तरह ही समाप्त कर सकते हैं कि आज जरूत है कि रचनाकार रचना के 'बेसिक्स' तक पहुँचें। वे कम-से-कम उन महान रचनाकारों को अपना आदर्श बनाएँ जिन्होंने निरंतर श्रेष्ठ, कलात्मक, मानवीय, रचनाएँ करते हुए राजनीतिक चेतना से लैस रहकर दुश्मनों के विरुद्ध युद्ध भूमि तक में उतरे। ऐसे कवि भी हुए हैं, युद्ध भूमि में मारे जाने के बाद, जब लाशें हटायी गयीं तब उनके ओवरकोट से उनकी रचनाएँ भी बरामद की गयीं। रचना, राजनीति, चिंतन और प्राथमिकता के आधार पर अपने काम के संयोजन को गंभीरता से महसूस करना आज के रचनाकारों के सामने एक 'टास्क' की तरह होना चाहिए।

कहा यह जाता है कि साहित्य समाज और राजनीति से आगे चलता है और उन्हें दिशा देता है, आगे की राह दिखाता है पर सचाई यह है कि इस भूमिका में खड़ा होने के लिए भी रचनाकारों को सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक परिदृश्यों को पूरी तरह समझना और आत्मसात् करना पड़ता है—प्रेमचंद, लूशुन, गोर्की जैसे विभिन्न लेखकों के उदाहरण हमारे ही सामने पड़े हैं। इसलिए लेखकों को राजनीति यानी विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों से परहेज रखना उन्हें एक हास्यास्पद और अलेखकीय स्थिति में ले जाता है। आज अच्छा व समाजोचित यानी श्रेष्ठ साहित्य न लिखे जाने के पीछे जो संकट दिखायी देता है वह लेखकों का राजनीति से भयाक्रांत रहना तथा आज की वास्तविक राज-नीतिक धाराओं का विश्लेषण करने से पीछे हटना है। दूसरे शब्दों में इस स्थिति को इस तरह भी कहा जा सकता है कि साहित्य, राजनीति दोनों ही हमारे ही समाज की दो स्थितियाँ हैं इन्हें अलग कर, विरोधी खेमे में रखकर नहीं देखा जा सकता। दोनों ही कार्यक्षेत्र उस व्यापक मानवीय संस्कृति की रचना करने

के लिए प्रतिबद्ध हैं जो मनुष्य को उसकी पूरी सकारात्मक, रचनात्मक स्वतंत्रता उपलब्ध कराते हुए एक सुखी समाज उपलब्ध करा सकें। इसलिए हे लेखको, रचनाकर्मियों, संस्कृति के ध्वजावाहको राजनीति से डरो मत, समाज की विभिन्न-धाराओं का विश्लेषण करो और श्रेष्ठ रचनाएँ दो—लिखने का संकट स्वयं का, भय और निजता का पैदा किया हुआ संकट है, इसे समाप्त करना मुश्किल नहीं है।

□□

बंकिम की उपन्यास-कला

☐ डॉ० अवधेश प्रधान

बंकिमचन्द्र के निधन पर चैतन्य लाइब्रेरी में अपना निबंध पढ़ते हुए रवीन्द्र नाथ ने कहा था, 'बंकिम ने बंगला साहित्य के प्रभाव का सूर्योदय किया, हमारा हृदय-कमल वहीं पहली बार प्रस्फुटित हुआ।' जिस आधुनिक बंगला भाषा के रवीन्द्रनाथ श्रेष्ठ कवि हैं बंकिम चन्द्र उसके प्रथम और श्रेष्ठ उपन्यासकार ही नहीं, आदि उन्नायक हैं। जब उनकी तुलना में अनेक अर्धशिक्षित प्रतिभाहीन व्यक्ति अंग्रेजी में दो सतरें लिखकर घमण्ड से फूल उठते थे, तब उस समय के शिक्षितों में श्रेष्ठ बंकिमचन्द्र ने 'अपनी सारी शिक्षा, सारा अनुराग, सारी प्रतिभा, उसी दीन-हीन बंगला-भाषा के चरणों में भेंट चढ़ा दी।' बंकिम ने १८५८ ई० में प्रेसिडेन्सी कालेज से बी० ए० किया, वे कलकत्ता विश्वविद्यालय के पहले ग्रेजुएट थे और बी० ए० का नतीजा आते ही वे डिप्टी मजिस्ट्रेट पद पर नियुक्त कर लिये गए। ऐसी शिक्षा, ऐसा पद, वह भी उस जमाने में! तो भी बंकिम अपनी प्यारी मातृभाषा को नहीं भूले। इतना ही नहीं, उन्होंने शिक्षा और पद के अहंकार के साथ, बंगला पर दया दिखलाने का नाटक नहीं किया बल्कि बंगला के प्रति अपनी विनम्र श्रद्धा व्यक्त की। काव्य, विज्ञान, इतिहास, धर्मतत्व, उपन्यास-अनेक विषयों में अपनी कलम चलाकर उन्होंने आधुनिक बंगला साहित्य की सर्वांगीण उन्नति की। रवीन्द्रनाथ के शब्दों में, 'विपन्न बंगला भाषा ने आर्त्त स्वर में जहाँ भी उन्हें पुकारा है वहीं पर उन्होंने चतुर्भुज रूप में दर्शन दिया है।' वे भारतीय नवजागरण के निर्माताओं में थे। नव-जागरण का प्रकाश उनके विवेचनात्मक और रचनात्मक—हर प्रकार के साहित्य में, विभिन्न रूपों में, प्रतिफलित हुआ लेकिन उनकी सबसे सक्षम कलात्मक अभि-व्यक्ति उनके उपन्यासों में हुई।

उनके कथा-संसार में उनके निकटवर्ती अतीत की यानी अठारहवीं सदी के संक्रमणकालीन भारत की झाँकी मिलती है जब मुगल शासन पतन के कगार पर है, राजनीतिक केन्द्रबद्धता के बजाय चारों ओर उथल-पुथल और अफरा-तफरी का माहौल है और अंग्रेज भारत में अपना पैर जमा रहे हैं। चूंकि स्वयं वे एक संक्रमण काल से गुजर रहे थे इसलिए उनके उपन्यासों में अतीत और वर्तमान की, इतिहास और कल्पना की क्रिया-प्रतिक्रिया दिखाई पड़ती है। उनके उप-

न्यास दिलचस्प कथा-विन्यास, नाटकीय घटना-प्रवाह, सजीव चरित्र-चित्रण और यथार्थपरक वर्णनशैली के कारण रोचक तो हैं ही, अपनी विशिष्ट ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और नैतिक अन्तर्दृष्टि की आभा से विशेष रूप से उद्भासित हो उठे हैं। एक ओर घटनाओं का यथार्थ-परक सहज और नाटकीय प्रवाह उनकी आधुनिक उपन्यास-कला को दर्शाता है तो दूसरी ओर मरकर जी उठने, रहस्यमय परिस्थितियों में रहस्यमय पुरुषों या स्त्रियों, खासकर संन्यासियों की चमत्कारी उपस्थिति या अनेक कथानक रूढ़ियों और आकस्मिक संयोगों की योजना पुरानी भारतीय कथा-परंपरा की याद दिलाती है। वे कभी-कभी सूत्रधार की तरह कथा-प्रवाह के बीच खुद भी उपस्थित हो जाते हैं और पाठकों से सीधे बात करने लगते हैं। वे बंगला के प्रथम उपन्यासकार हैं फिर भी उन्होंने केवल घटनाओं, परिस्थितियों या पात्रों का बाह्यार्थमूलक वर्णन ही नहीं किया है—यद्यपि उनके ऐसे वर्णन भी अत्यन्त सजीव, विशिष्ट और प्रभावशाली हैं—बल्कि एक मंजे हुए आधुनिक कलाकार की तरह भावों और विचारों की उथल-पुथल, विभिन्न मनोवृत्तियों के घात-प्रतिघात और अन्तर्जगत् के द्वन्द्वपूर्ण सत्य का भी उद्घाटन किया है।

उनके उपन्यासों में मुख्यता उच्च अभिजातवर्ग की है लेकिन साधारण लोक-जीवन का सर्वथा अभाव नहीं है। 'आनन्दमठ' के संन्यासी किसान-उत्पत्ति से आए हैं। सिपाही, नाविक और नौकर-चाकर साधारण जनता का प्रतिनिधित्व करते हैं। अभिजातवर्ग की विलासिता, जड़ता और निठल्लेपन का उन्होंने आलोचनात्मक चित्रण किया है। पुरुष और नारी—दोनों में जितेन्द्रियता, शील और शौर्य के गुण उन्हें बेहद पसंद हैं। उनके नारी पात्र एक ओर अपने रूप, यौवन और लावण्य से मन मोह लेते हैं, दूसरी ओर अपनी तेजस्विता, दृढ़ सच्चरित्रता, शक्ति और शौर्य से विस्मित कर देते हैं। यौवन और सौन्दर्य का, अपार रूप-राशि और कांति का कवित्वमय चित्रण वे बड़े मनोयोग से करते हैं लेकिन सर्वत्र उदात्त की गरिमा बरकरार रखते हैं। उनके कथासाहित्य में नारी का उच्छल भोग-शृंगार कहीं हावी नहीं होने पाया है। उनके नारी पात्र जितने ही सुंदर हैं उतने ही प्रेममय', जितने ही सुकुमार उतने ही सशक्त। उनकी नारियाँ कट्टर पतिपरायणा हैं, अत्यन्त कष्ट-सहिष्णु हैं, आतमत्याग से भरपूर हैं लेकिन अन्याय के आगे रोती-गिड़गिड़ाती नहीं हैं, घड़ों आँसू नहीं बहाती हैं वरन् वीरतापूर्वक अन्याय का प्रतिकार करती हैं। उनकी बुद्धिमत्ता, वीरता, एकांत प्रेमनिष्ठा आदि गुणों के कारण उनके आगे पुरुष पात्र भी फीके पड़ गए हैं। 'आनन्द मठ' जैसे उपन्यास में भी शांति देवी का व्यक्तित्व अपनी अलग से पहचान कराता

है। बंकिम के नारी-पात्र घरों में बहु विवाह प्रथा से, वैधव्य से, झूठे कुलाभिमान से संघर्ष करते हैं और घरों के दायरे लांघकर बाहर युद्धभूमि में हथियारबंद दुश्मन का हथियारों से मुकाबला करते हैं। इस दृष्टि से देवी चौधरानी, शांतिदेवी, श्री जयंती आदि उनके अविस्मरणीय नारीपात्र हैं। उनके नारीपात्रों को देखकर लगता है कि सचमुच 'बंकिम की सरस्वती वीणावादिनी ही न थीं, खड्गधारिणी भी थीं।' बंकिम ने अपने उज्ज्वल नारीपात्रों की सृष्टि से आधुनिक साहित्य के पाठकों में एक उदात्त सौन्दर्यबोध और नारी के प्रति सम्मान की भावना विकसित की।

बंकिम के उपन्यासों में सारी पशुता और दरिद्रता को नीचे दबाकर एक ओर महिमामयी नारी ऊपर उठती दिखाई देती है दूसरी ओर प्रकृति। घने वनों, तालाबों, नदियों, पेड़ों और फूलों के सम्मोहनकारी सौन्दर्य-चित्र उनके यहाँ भरे पड़े हैं। उनके पात्र बंगाल की हरी-भरी, शस्यश्यामला धरती से ही उगते हैं। वंग भूमि की नैसर्गिक सुषमा, प्रकृति की हर गति उनके पात्रों के अन्तःसंघर्ष का अभिन्न अंग है। प्रकृति के कोमल और भीषण दोनों पक्षों की सुन्दरता उन्होंने अंकित की है। जिस तल्लीनता से वे पुष्पवाटिका या पुष्करिणी का सौन्दर्य चित्रित करते हैं, उसी तल्लीनता से वे भयावने जंगलों या राजस्थान के पहाड़ों और गुफाओं को भी चित्रित करते हैं। राजसी ऐश्वर्य हो या वन्य प्रकृति, युद्ध हो या नौका चालन, वैभव हो या अकाल, सुन्दर युवती हो या संन्यासी, राज कुमार हो या डाकू—हर जगह उनकी कलम एक सधे हुए चित्रकार की तूलिका की तरह चलती है।

उन्हें अपनी बंगाली जाति की श्रेष्ठ परंपराओं पर गर्व है। इसी गर्वभावना से उन्होंने 'मृणालिनी' में इस प्रवाद का खण्डन किया कि बख्तियार खिलजी ने केवल सत्रह घुड़सवारों को लेकर सारा बंगाल जीत लिया और जातीय प्रतिरोध-चेतना को व्यक्त किया। बख्तियार खिलजी से लेकर लार्ड क्लाइव तक की कूटनीतिक धूर्तता को रेखांकित करते हुए उन्होंने इसी उपन्यास में लिखा था, 'बंगभूमि के अदृष्ट लेख में यही है कि भूमि युद्ध से न जीती जाएगी। चतुरता ही में इसकी जय है। चतुर क्लाइव साहब इसके द्वितीय परिचय स्थान हैं।' अन्याय के सक्रिय प्रतिरोध को लेकर उनके मन में हिंसा-अहिंसा की दुविधा नहीं है। 'आनन्द मठ' में उन्होंने अन्याय के सक्रिय और सशस्त्र प्रतिरोध को वैष्णव परंपरा का वास्तविक लक्षण बतलाया है क्योंकि 'विष्णु केवल प्रेममय ही नहीं, वे अनन्त शक्तिमय भी हैं' और 'प्रकृत वैष्णव धर्म का लक्षण दुष्टों का दमन और धरित्री का उद्धार है।' 'देवी चौधरानी' में हथियारबंद बरकंदाजों

की पीठ पर लाठी बंधी हुई है क्योंकि 'यह बंगालियों का जातीय हथियार है। बंगाली ही इसका असल उपयोग जानते थे। लाठी छोड़कर ही बंगाली आज इतने निर्जीव हो गए हैं।' बंगाल के बहादुर सिपाहियों में वे राजपूतों और भोजपुरिया जवानों का जिक्र करना नहीं भूलते। 'आनन्द मठ' के वीर संन्यासी हथियार और गोला-बारूद का कारखाना भी खोलते हैं और अंग्रेजों की तोपों का जवाब तोपों से देते हैं।

उनका सबसे विवादास्पद उपन्यास है 'आनन्द मठ' और विवाद का कारण है उनकी यह समझ कि भारतीय जनता के एकमात्र शत्रु मुसलमान हैं, अंग्रेज मित्र हैं, वे भारतीयों का उत्थान करने के लिए आए हैं इसलिए भारतीय जनता को अंग्रेजों से नहीं, मुसलमानों से संघर्ष करना चाहिए। उनकी यह राजनीतिक समझ अन्य उपन्यासों में फुटकल रूप में, लेकिन 'आनन्द मठ' में केन्द्रित रूप से व्यक्त हुई है। अगर यह सच होता तो बंकिम के ही जीवनकाल में १८५७ में तमाम हिन्दू-मुसलमान एक साथ मिलकर अंग्रेजों के खिलाफ आजादी की पहली लड़ाई नहीं लड़ते। यह वैचारिक संकीर्णता बंकिमचन्द्र की सबसे बड़ी कमी है। इसी कारण उनकी देशभक्ति का प्रवाह राजभक्ति की शिला से अवरुद्ध हो जाता है। अन्यथा 'आनन्द मठ' की पृष्ठभूमि जिस करुण विषाद से आरंभ होती है, सुजला-सुफला-मलयजशीतला शस्यश्यामला भारत माता की उदात्त कल्पना जिस भयावह अकाल से जन्म लेती है, संन्यासी विद्रोह की ज्वाला जिस पैशाचिक शोषण और दमन के बारूद से भड़कती है उसका संकीर्ण मुस्लिम-विद्वेष से कोई तालमेल नहीं बैठता। संन्यासी गेरुआधारी विक्षुब्ध किसान हैं, वे ब्राह्मण-शूद्र का भेद मिटाकर, एक अन्याय-विरोधी जाति और धर्म (सन्तान-धर्म) की रचना करते हैं, उनके मन में बंगाल के मुस्लिम शासक के खिलाफ विद्रोह की भावना है लेकिन वे अंग्रेजों की रखवाली में ले जाई जाती मालगुजारी या रसद को लूटने में नहीं हिचकते और जब उनका दमन करने के लिए अंग्रेजों की फौज आती है तो वे उसका वीरतापूर्वक मुकाबला करते हैं यहाँ तक कि आग उगलती हुई तोपों पर भी टूट पड़ते हैं। पाठकों ने और व्यापक जनता ने भी इस उपन्यास का मर्म समझने में अद्भुत प्रतिभा का परिचय दिया, उन्होंने 'आनन्द मठ' से भारतमाता की कल्पना, उत्कृष्ट देश भक्ति और 'वंदे मातरम्' का नारा तो ग्रहण किया, लेकिन उसका संकीर्ण मुस्लिम-विद्वेष नहीं। बंकिम ने इस उपन्यास के द्वारा-जनमानस में दुर्गा माता की जगह भारत माता की, ईशभक्ति की जगह देशभक्ति की, आध्यात्मिक मुक्ति की जगह राजनीतिक मुक्ति की और देशोपासकों की जगह देशभक्तों की प्रतिष्ठा की और साहित्य में नए आदर्श की स्थापना की। वे सच्चे अर्थों में भारतीय नवजागरण के वैतालिक-कथाकार थे। □□

समीक्षा

'उसका सपना' की कहानियाँ और जिन्दगी का यथार्थ*

☐ डॉ० कृष्णचन्द्र लाल

क़मर मेवाड़ी के तीसरे कहानी-संग्रह 'उसका सपना' की लगभग सभी कहानियाँ हमारे समय और समाज के बहुरंगी यथार्थ से पैदा हुई हैं। इस संग्रह की कहानियों की विशिष्टता यह है कि वे किसी एक यथार्थ की अनेकायामी छवि नहीं उकेरती हैं बल्कि जीवन को खुली आँख से देखती हुई वह सब चित्रित करती हैं जो हमारे जीवन को किसी न किसी रूप में बेहाल और बदहाल किये हुए है तथा जिससे निज़ात पाने की छटपटाहट हम सब में मौजूद है। यथार्थ से इतना घनिष्ठ और परिपूर्ण होने के कारण क़मर मेवाड़ी की कहानियाँ पाठक को आकृष्ट करती हैं, उसके स्नायु-तंत्र पर चोट भी करती हैं और जीवन-समस्याओं को समझने का ज़रिया भी बनती हैं। यहाँ यह स्पष्ट कर देना जरूरी है कि यथार्थ को बद्धमूल दृष्टि से न देखने के कारण ही क़मर मेवाड़ी वैविध्यपूर्ण कहानियाँ रचने में सफल हो सके हैं। समकालीन हिन्दी कहानी मार्क्सवाद और जनवाद के नारों में खोयी हुई है, उसका कथा-रस ग़ायब हो गया है, उसकी जगह क्रान्ति और विद्रोह का तीखा स्वर आ गया है, फलस्वरूप आज की कहानी जीवन की कहानी न होकर, फार्मूलाबद्ध कहानी हो गयी है। क़मर मेवाड़ी की कहानियाँ इस रूढ़ि से मुक्त हैं। रूढ़िमुक्तता के कारण ही वे जीवन्त और दयनीय हो गयी हैं।

हर रचनाकार अपनी रचना में जीवन-यथार्थ का ही चित्रण करता है। इस दृष्टि से सभी लेखक-कवि यथार्थ के चितेरे होते हैं लेकिन उत्कृष्ट सृजनात्मकता के लिए यथार्थ-चित्रण भर काफी नहीं होता। उसके लिए जरूरी होता है यथार्थ को उसकी समग्रता और जटिलता में पकड़ना-समझना तथा संभाव्य यथार्थ की प्रतीति कराने के लिए तदनुकूल प्रभावी शिल्प का आविष्कार करना। इस दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि क़मर मेवाड़ी की कहानियाँ सरल यथार्थ तक

---

* उसका सपना—कमर मेवाड़ी—संबोधन प्रकाशन, कांकरोली, राजस्थान, प्रथम संस्करण-१९९०, सजिल्द, मूल्य—३० रुपये।

ही पहुँच पाती हैं। उनकी कहानियों में जहाँ यथार्थ की जटिलता कदम रखने लगती है, वे उन्हें वहीं समाप्त कर देते हैं जैसे 'फैसला' कहानी। इस कहानी में चमरौटा टोला के लोगों ने जब जग्गू के नेतृत्व में यह फैसला दिया कि 'हम ईंट का जबाब पत्थर से देंगे' तब कहानीकार ने इतना लिखकर कहानी खत्म कर दी—'उधर ठाकुरों के शान्त साम्राज्य में आग लग गयी थी। ठाकुरों के हौसले पस्त थे। ठाकुर टोला ईर्ष्या और वैमनस्य की आग में जल रहा था और वहाँ से आग की भयानक लपटें उठ रही थीं।'

कहना न होगा कि कहानी का असली द्वन्द्व तो इसी अवस्था के बाद शुरू होता है। देश के विभिन्न क्षेत्रों में यह द्वन्द्व अपने चरम रूप में व्यक्त भी हो चुका है और व्यक्त हो भी रहा है। रचनाकार तो संभाव्य यथार्थ को प्रकाशित करते हुए संघर्षरत जनता को नई दिशा देने का कार्य करता है, न कि संघर्ष के वर्तमान रूप को चित्रत करके शान्त हो जाता है। हमारे देश में जातिवादी संघर्षों ने अब जो रूप ले लिया है उनके मद्देनजर यह कहानी उन संघर्षों की सुगबुगाहट की ही सूचना देती प्रतीत होती है। हमारे इस कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि इस कहानी में कोई समाधान होता या कहानी किसी निर्णायक बिन्दु पर समाप्त होती। हमारा अभिप्राय सिर्फ यह है कि कहानी को जातिवादी संघर्षों की उस जटिलता में प्रवेश करना चाहिए था जिसमें आज का दबा-कुचला जन अपनी अंतिम साँसें गिन रहा है या उससे पार निकलने की तैयारी कर रहा है। इस कहानी की अपेक्षा 'धुंध में फंसे लोग' अच्छी कहानी है क्योंकि अपनी सादगी और सरलता के बावजूद यह अंत में उस जटिलता का बोध करा देती है जिसमें दक्षिण पट्टी के लोग अचानक फंस जाते हैं। इससे कम से कम जीवन-संघर्ष में फँसे लोग यह तो समझ सकते हैं कि जिन्दगी का रास्ता सरल-सीधा नहीं होता। कहानी के अन्त में जो नाटकीय स्थिति पैदा होती है, वह आज का क्रूर यथार्थ है। कहानी की अंतिम पंक्तियाँ इस यथार्थ की भयावहता का तीखा बोध कराती हैं—

'दक्षिण पट्टी के लोग अच्छी तरह से जानते थे कि मास्टर दयाराम का कातिल कौन है, पर वे भयाक्रान्त और मौन थे और भय के कारण पीपल के सूखे पत्ते की तरह काँप रहे थे।'

हमारी व्यवस्था ने आज जो हालात पैदा कर दिये हैं उनमें निरीह, निरपराधी लोगों का इस तरह भयाक्रान्त होना आम बात होती जा रही है, यही वजह है कि लोगों का प्रशासन और न्याय-व्यवस्था पर से विश्वास समाप्त होता

जा रहा है । ऐसी परिस्थिति में, फिलहाल, जलछा जैसे लोगों का निःशंक और निर्भय रहने को कौन कहे, वाजिब ज़िन्दगी जीना भी मुश्किल होता जा रहा है ।

इस कहानी में क़मर मेवाड़ी ने सरकार के द्वारा गरीबों की कर्ज़माफी और बंधुआ मजदूरी से मुक्ति के यथार्थ का जो वर्णन किया है, वह और तरह की जटिलताओं से भी भरा हुआ है । यह सही है कि सरकार ने कर्जमाफी की घोषणा कर दी लेकिन इससे उसने गरीबों को कई तरह की परेशानियों में डाल दिया ! सोचने की बात है कि एक बार कर्जमाफी के बाद क्या उन्हें कर्ज़ की पुनः जरूरत नहीं पड़ेगी ? क्या सरकार ने ऐसी कोई व्यवस्था की कि उन्हें कर्ज़ न लेना पड़े या उनसे न लेना पड़े जो कर्ज़ देकर सारी ज़िन्दगी गिरवी रख लेते हैं । 'सूरज फिर निकलेगा' की सुखिया जैसी जाने कितनी स्त्रियों की अस्मत महाजन लूटते रहते हैं, क्या सरकार की उक्त योजना से वह सब बंद हो सकेगा ? दूसरे, सरकार को यह हक कहाँ से मिला कि वह किसी का कर्ज़ ऐसे-वैसे माफ़ कर दे । यदि सरकार वास्तव में गरीबों का हित चाहती है तो उसे चाहिए कि उनका कर्ज़ भर कर उन्हें ऋणमुक्त कर दे, लेकिन सरकार ने ऐसा न करके जनप्रियता की एक छद्म भरी चाल चली जिसकी वजह से ग़रीब पर दुहरी मार पड़ी । कहने का तात्पर्य यह है कि क़मर मेवाड़ी ने 'धुंध में फँसे लोग', 'फैसला' और 'सूरज फिर निकलेगा' कहानियों में समसामयिक यथार्थ की जो अभिव्यक्ति की है, वह इकहरी तो है लेकिन मार्मिक है । यदि कहानीकार ने उसकी पेचीदगियों को उरेहने की कोशिश की होती, तो ये कहानियाँ और अधिक प्रभावशाली तथा व्यापक दृष्किोण से सम्पन्न हो जातीं ।

'सूरज फिर निकलेगा' के सन्दर्भ में नंद चतुर्वेदी की यह बात बड़ी अर्थपूर्ण है कि सुखिया जिस बहादुरी का परिचय देती है, वह भारतीय स्त्रियों में बहुत कम पाई जाती है । वास्तविकता यह है कि समाज में ऐसे उदाहरण बहुत कम मिलते हैं कि कोई स्त्री महाजन की लपलपाती जीभ काट ले या अपनी ओर बढ़ रहे कामुकता के हाथों को छिन्न-भिन्न कर दे लेकिन साहित्यकार का प्रयोजन सच के उस अंश से होता है जो जीवन को गति देने वाला या नयी दिशा प्रदान करने वाला हो । यह अंश भले ही अल्प या विरल हो, लेकिन जीवनदायी होने के कारण पोषणीय होता है । अतः यदि क़मर मेवाड़ी की सुखिया बहादुरी प्रदर्शित करती है तो वह सोचनीय नहीं, प्रशंसनीय है । लेखक का यह मंतव्य भी स्पृहणीय है और ऐसे ही मंतव्यों से श्रेष्ठ रचनाएँ जन्म लेती हैं । इस तरह का मंतव्य 'उसका सपना' में भी है । कालिया का कुल सपना है—अपनी ज़मीन को प्राप्त करना और चम्पा की आत्मा को शान्ति प्रदान करना । उसके ये दोनों

सपने पूरे नहीं होते । यह आज का यथार्थ है, लेकिन कहानी का सकारात्मक पहलू यह है कि कालिया इस सपने को पूरा करने का संकल्प पाले रहता है । यह संकल्प बना रहे, इसी में पीड़ित जनता का हित है । इस संकल्प के रहते वह अपना सपना कभी न कभी, पूरा तो कर ही लेगी ।

'उसका सपना' के 'सिरीमाल साहब' की भलमनसाहत आज के समाज में एक सपना ही है लेकिन कालिया के लिए यह एक सच्चाई सिद्ध होती है । ऐसी भलमनसाहत अपवाद स्वरूप दिखाई पड़ती है । इस तथ्य-सत्य के आधार पर क़मर मेवाड़ी ने जो कहानी तैयार की वह कालिया के सपने की विकलता को थोड़ा कमजोर कर देती है । उन्होंने आगे कहानी को फिल्मी शैली में ढाल दिया है । क्या ही अच्छा होता कि चम्पा की आकस्मिक मृत्यु न दिखाकर, लेखक ने दोनों के संयुक्त प्रयास को एक ही दिशा दी होती, तब कहानी कुछ जटिल और मार्मिक भी बन गई होती; लेकिन जैसा कि कहा जा चुका है कि क़मर मेवाड़ी अक्सर कहानी को वहीं समाप्त कर देते हैं जहाँ वह टेढ़े-मेढ़े रास्तों में उलझने-फँसने लगती है ।

'आतंक' इस संग्रह की मार्मिक कहानी है । वास्तव में इस कहानी की रचना में लेखक ने अनुभूत यथार्थ जैसा स्वाद पैदा किया है और दहशतजदा लोगों की मानसिकता, पीड़ा, असहायता और नियति का बड़ा ही मार्मिक चित्रण करके गहरी सहानुभूति पैदा करने में सफलता प्राप्त की है । आतंकवाद के चलते देश के जाने कितने क्षेत्रों के लोग अपनी स्वाभाविक ज़िन्दगी भूल चुके हैं और बंद घरों में केवल मौत का आतंक झेलते रहते हैं । यह कहानी जीवन और मौत के ताने-बाने से बुनी गई है, इसीलिए इसमें जितना मौत का आतंककारी स्वर है, उतनी ही प्रबल जिजीविषा और मनुष्यता की अनुभूति भी है । वह अनाम स्त्री मौत के आगोश में होने के बावजूद कहानी के 'मैं' को जिस तरह भोजन-पानी देती है, वह मनुष्यता का चरम निदर्शन है । बिडम्बना यह है कि मनुष्यता के इस चरम निदर्शन की घड़ी में ही आततायी की वह नृशंस करतूत भी सामने आती है जिसकी वजह से वह स्त्री पल-अन्तर में ही मौत की गोद में सो जाती है । इस कहानी को पढ़कर पंजाब, असम आदि प्रदेशों की आतंकवादी कारगुजारियों का हृदय विदारक परिचय मिल जाता है।

'बदलते रिश्ते', 'मुक्ति', 'अलविदा जंगल', 'पुजारिन', 'एक जीनियस का अंत' इस संग्रह की सामान्य कहानियाँ हैं । इन कहानियों में जीवन के छोटे-छोटे यथार्थों का चित्रण सामान्य ढंग से हुआ है । ये कहानियाँ आज के यथार्थ से बहुत दूर पड़ी दिखाई पड़ती हैं । 'बदलते रिश्ते' में बूढ़ा बाप रेहाना के प्रेम-

पाश में बँध जाता है और उसका लड़का सोमेश उनके संबंध को जिस तरह स्वीकार कर लेता है, वह अविश्वसनीय लगता है। हिन्दू-मुश्लिम दंगे में बूढ़े ने पत्नी खो दी लेकिन बाद में मुस्लिम महिला उसकी जीवन-संगिनी बन गई, यह चित्रित करके लेखक ने यह जरूर प्रमाणित किया है कि न तो सभी हिन्दू साम्प्रदायिक हैं और न सभी मुसलमान, लेकिन इससे कहानी बहुत अर्थपूर्ण नहीं हो सकी। इसी तरह 'मुक्ति' कहानी भी पढ़े-लिखे दम्पत्ति के तनाव और द्वन्द्व को तो चित्रित करती है किन्तु इस द्वन्द्व-मुक्ति का जो रास्ता दिखाती है, वह सही होते हुए भी ठीक नहीं है। पति पढ़ी-लिखी और कमाऊ पत्नी से ऊबकर, कुंठित होकर या कि कहना चाहिए कि एडजस्टमेण्ट न होने के कारण नींद की गोलियाँ खाकर आत्महत्या कर लेता है। यही उसकी मुक्ति का रास्ता है। ज़ाहिर है कि आत्महत्या किसी प्रकार की मुक्ति का रास्ता नहीं हो सकती।

'पुजारिन' कहानी में कहानीपन नहीं है। यह एक तरह से आस्तिकता और भारतीय स्त्री की परम्पराबद्धता का उपहास कराने वाली कहानी है किन्तु बातें कहानी में न ढलकर केवल संवाद बनकर रह गयी हैं। इससे कोई गहरा मंतव्य भी नहीं स्पष्ट होता है।

इसी तरह 'अलबिदा जंगल' और 'एक जीनियस की मौत' भी विचार को कहानी में तब्दील करने की एक कोशिश प्रतीत होती हैं। इन कहानियों को लेखक ने गढ़ने की कोशिश की है। कहानियाँ गढ़ने से नहीं, जीने से संवरती हैं। जब कथाकार जीते-जागते पात्रों की जिन्दगी में प्रवेश करके उनके सुख-दुख और द्वन्द्व-संघर्ष को जीता है, तभी वह अच्छी कहानियाँ लिखने में सफल होता है। क़मर मेवाड़ी इन कहानियों में वास्तविकता को आत्मिक स्तर पर जीने में सफल नहीं रहे हैं।

उपर्युक्त कुछ कहानियों की सरलता, सपाटता और कमजोर शिल्प के बावजूद 'उसका सपना' की अनेक कहानियाँ यह प्रमाणित करती हैं कि क़मर मेवाड़ी जीवन के वृहत्तर यथार्थ से समग्री लेकर अपनी कहानियों की रचना करते हैं और जीवन को गतिशील बनाये रखने के लिए उसके सकारात्मक विन्दुओं को उभारने की भरपूर कोशिश करते हैं।

□□

हिन्दी की नयी काव्यधारा की खोज और पहचान

□ अनिल सिन्हा

संस्कृति की हमारी विशाल और बेतरतीब दुनिया में कवियों की परंपरा आमतौर पर मौखिक कवियों की परंपरा रही है या लोक जीवन में किस्सागोई की अनेकानेक लोक गायन की। ऐसे संस्कृतिकर्मी रचते थे, गुनते थे और आम लोगों के बीच किसी-न-किसी रूप में अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कर देते थे। इसीलिए भारतीय संस्कृति में श्रुतियों की एक लंबी परंपरा रही है। इस परंपरा का सदियों तक विकास हुआ, एक हद तक लोगों का सांस्कृतिक परिष्कार भी हुआ लेकिन श्रुतियाँ काल के गर्भ में विलीन भी होती रहीं और श्रुतियों का बहुत सारा आज हमारे पास नहीं है। अतः मात्र श्रुतियों के आधार पर सामाजिक संस्कार और सामाजिक चेतना का काम नहीं किया जा सकता था। विज्ञान के विकास ने इसीलिए संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों को प्रभावित किया और श्रुतियों को भी एक ठोस रूप दिया, कवियों के काम को एक औजार के रूप में इस समाज में प्रस्तुत किया। श्रुतियाँ और गायन किस तरह एक सांस्कृतिक औजार बन गईं इसे बिल्कुल आधुनिक युग में ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के विरुद्ध चलाई गई सास्कृतिक लड़ाई में देखा जा सकता है।

हमारे देश के अनेकानेक क्रांतिकारियों और उर्दू, हिन्दी, अवधी, भोजपुरी आदि कवियों ने अपनी कविताओं और गीतों को हवा में मार करने वाले एक औजार के रूप में इस्तेमाल किया और हंसते-हंसते ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की फाँसी पर झूल गए या उनकी गोलियों के शिकार हो गए। और इसके बाद इस परंपरा का निरंतर विकास दिखाई देता है। इस परंपरा का विकास सबसे सशक्त और कारगर ढंग से कविताओं में दिखाई देता है चाहे वे कविताएँ हिन्दी, तेलुगू, पंजाबी, भोजपुरी, बंगला आदि किसी भाषा में हों। वह श्रुति परंपरा ही है जो विज्ञान के चिंतन के साथ आधुनिक होते-होते इस हद तक पहुँची कि जहाँ संस्कृतिकर्म, विशेष तौर से गजल, कविता और गीत, और राजनीतिकर्म तथा समाज परिवर्तन के कार्यक्रम प्रायः एक दूसरे के मददगार हो गए—मार्चिंग सांग बने, खेतों-खलिहानों में गाए जाने के लिए उद्‌बोधन व क्रांतिकारी गीत लिखे गए, राजनीतिक सम्मेलनों के पहले गीत गाए जाने लगे, गीतों में आज की सामाजिक, सांस्कृतिक विसंगतियों के चित्र

आए, आम लोगों में, खास तौर से मजदूरों व किसानों की इन गीत और कविताओं के माध्यम से चेतना और क्रांतिकारी ऊर्जा का विकास किया गया। संस्कृति का यह कर्म किस तरह राजनीतिक कर्म को परिवर्तन की दिशा में बढ़ने और समृद्ध होने में मदद करता है इसे सहज ही समझा जा सकता है।

यह परंपरा सत्तर के दशक के उत्तरार्द्ध में बड़े सशक्त ढंग से विकसित हुई शायद इसलिए कि इस समय तक आते-आते सामंती शोषण, पूँजीवादी उभार और धार्मिक कट्टरता अपने आकार ग्रहण करने लगी थी बल्कि इनका एक निश्चित उत्पीड़क रूप उभर कर का सामने आ गया था। यह रूप ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध संगठित क्रांतिकारी लड़ाई, देश के लिए मर मिटने वाली राष्ट्रवादी लड़ाई और तत्कालीन शोषण से भिन्न और आगे बढ़ा हुआ रूप था। सत्तर के दशक में आकर यह रूप अपना ठोस आकार लेने लगता है और हिन्दी कविता ग्रामीण क्षेत्रों में प्रवेश करने लगती है। एक नए सांस्कृतिक उभार को सामने लाती है। यह नया सांस्कृतिक उभार कविता और जमीन के नए रिश्ते को सामने लाता है। राजनीति में जो चेतना भूमि आंदोलन, किसान आंदोलन व संघर्ष में दिखाई देती है उसी तरह कविता व गीतों में भी दिखाई देती है। इसीलिए इस दौर में किसान कवियों की एक सर्वथा नई परंपरा विकसित हुई। लोग किसानी करते, मजूरी करते, खेतों में रोपनी-सोहनी करते, और अपने हाल का, अपनी गरीबी-बदहाली, अपनी सामाजिक स्थिति, भूमिपतियों व सरकार के सुरक्षाबलों, अधिकारियों, व्यापारियों, सूदखोरों के व्यवहार, उनके चरित्र की चर्चा करते और उन्हें गीतों, कविताओं में व्यक्त करते। यहीं से हिन्दी में एक नए किसान-कवियों की परंपरा का विकास होता है जिसे अभी तक ठीक ढंग से चिह्नित नहीं किया गया है। मैं समझता हूँ इसी किसान-कवि परंपरा की देन हैं विजेन्द्र अनिल, गोरख पांडेय, अदिश गोंडवी, बल्ली सिंह चीमा तथा अनेक अनाम कवि जिनके गीत भोजपुर के किसानों, राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं, युवा रंग कर्मियों के कंठों में रच-बस गए हैं। बिहार, पंजाब, बंगाल, उत्तर प्रदेश, असम आदि क्षेत्रों में किसान-कवियों की यह परंपरा विकसित हुई है।

इस व्यापक फलक की चर्चा करते हुए मैं कहना यह चाहता हूँ कि किसान-कवियों की एक सशक्त कवियों की परंपरा भी पिछले दो-तीन दशकों में तेजी से बढ़ी है जिनकी तलाश करना आज हमारे लिए जरूरी है। ये कवि आज विभिन्न क्षेत्रों में एक तरह से छिपे हुए हैं या उन्हें बहुत व्यापक रूप में आम जनता के बीच आने का कोई अवसर नहीं मिल पाया है। इन्हें सामने लाना और इन्हें प्रचारित करना, इनसे व्यापक जनता का परिचय कराना हमारा ही काम है। इनका काम वास्तव में मिट्टी से फूटे हुए संस्कृतिककर्म हैं चाहे उनका

रूप गीत हो, कविता हो, गजल हो या नाटक का कोई रूप। यानी किसान-संघर्ष से एक नई संरचना की संस्कृति फूटी और आंदोलन, चेतना तथा संघर्ष को विकसित करने के लिए संस्कृति की यह नई धारा सहायक सिद्ध हो सकती है।

यहाँ मैं इस नई काव्यधारा का विस्तृत विवेचन नहीं कर रहा लेकिन इसे महत्वपूर्ण अधुनातम काव्यधारा मानते हुए साथियों को आगाह करता हूँ कि वे इस सर्वथा सार्थक धारा का पता लगाएँ और उसे मुख्य काव्यधारा के समकक्ष रखें वर्ना श्रुतियों की परंपरा की तरह उनके नष्ट हो जाने या एक वर्ग द्वारा सचेतन प्रयास कर उन्हें नष्ट कर दिए जाने का खतरा बना रहेगा। मैं कहना चाहता हूँ कि श्रुतियों की परंपरा (श्रुतियों को मैं केवल वेदों तक सीमित नहीं करता) का ही आधुनिक वैज्ञानिक विकास किसान-कवियों की परंपरा है। उन्हें बचाना और उन्हें आम जनता, संस्कृति कर्मियों के बीच लाना हमारा उत्तर-दायित्व है क्योंकि संस्कृति का सामाजिक कर्म भी यह धारा पूरी करती है। लोक जीवन, लोक कला, लोक चेतना, लोक संवेदना के साथ आई हुई यह धारा संस्कृति को बदलते मानक तय करने की दिशा में भी आगे बढ़ाती है और संस्कृति के नए नायकों व नए ध्वजावाहकों को चिह्नित करने, उन्हें पहचानने में भी मदद करती है। आज संस्कृति की दुनिया में किस तरह नए नायकों की तलाश जरूरी है ये किसान कवि इसकी जरूरत की तरफ इशारा करते हैं।

एक पुस्तक है 'जमीन से उठती आवाज'। बल्ली सिंह चीमा की गज़लों और गीतों का संग्रह। यह पुस्तक वस्तुतः जमीन से उठती आवाज नहीं है जमीन की तरफ बुलाती आवाज है क्योंकि आज के सामाजिक, राजनीतिक शोषण से भरे समाज के खेतों में काम करते हुए बल्ली के ये गीत फूटे हैं और आम लोगों को यह देखने के लिए बुलाते हैं कि देखो इस धरती पर क्या हो रहा है और ऐसी हालत में हमें-तुम्हें क्या करना चाहिए। यह ठीक ही है कि 'एक ऐसे समय में, जब हमारे चारों तरफ की दुनिया में उथल-पुथल की रफ्तार बहुत तेज़ हो गयी है, हिंसा और उत्पीड़न की ताकतों ने लोगों को बाँट कर उनपर अपना राज कायम करने के लिए, जनता का शोषण करने के लिए अपने हमले तेज कर दिए हैं—'चीमा की रचनाएँ बहुत साहस के साथ अपने पास बुलाती हैं और आज की स्थितियों में मुनासिब कार्यवाई के लिए प्रेरित करती हैं, कि कविता आदमी को संस्कृति के परिवर्त्तनकारी हथियार बनने को कैसे बाध्य करती है।

बल्ली के पास जीवन और समाज के गहन अनुभव हैं। प्रसिद्ध रंगकर्मी गुरशरण सिंह और बलदेव सिंह भान के साथ पंजाब में काम करते हुए उन्होंने उतना सीखा जितना आम तौर गहन अध्ययन से भी नहीं सीखा जा सकता। लोक जीवन को समझने में, समाज में फैले धर्म-कर्म को जानने में, शोषण के

विविध रूपों के बिल्कुल करीब से और कई बार अपने निजी अनुभवों से जानने का अवसर उन्हें पंजाब, उत्तर प्रदेश जैसे राज्यों के भ्रमण तथा सुरजीत पातर, जोगिन्दर कैरो जैसे पंजाबी लेखकों के साथ रहकर मिला।

बल्ली की काव्य रचना में कंटेंट का धन है। उनमें कई बार काव्य के उत्कृष्ट रूप के दर्शन नहीं होते लेकिन उनकी काव्यकला धीरे-धीरे बहुत परिमार्जित् व आकर्षक हुई है। सामाजिक बिडंबनाएँ, बेहतर समाज की आकांक्षाएँ उनके मन में घुमड़ती रहती हैं और उनका गुनगुनाना जारी रहता है। यहीं से उनके गीत फूटते हैं। चीमा इस स्थिति पर नज़र रखते हैं कि समाज परिवर्तन के लिए देश के किन भागों में किस तरह की लहर चलती है। वह अनायास ही नहीं लिखते—'ले मसाले चल पड़े हैं लोग मेरे गाँव के। अब अंधेरा जीत लेंगे लोग मेरे गाँव के।'....'बिन लड़े कुछ भी नहीं मिलता यहाँ यह जानकर। अब लड़ाई लड़ रहे हैं लोग मेरे गाँव के।' तेलंगाना जी उठेगा देश के हर गाँव में। अब गुरिल्ले ही बनेंगे लोग मेरे गाँव के।'

इस कविता के कई आयाम हैं—सामाजिक चेतना, परिवर्त्तन की लहरों से वाकफ़ियत, और नए समाज की रचना के रास्ते भी स्पष्ट हैं। एक किसान कवि के पास इतने संदर्भ और विश्वास दुर्लभ हैं।

पूंजीवादी, सामंती और नितांत व्यक्तिगत लाभ के दर्शन पर चल रहे देश की वर्तमान सरकार के चरित्र को भी बल्ली ठीक से जानते हैं इसीलिए कहते हैं—'रोटी माँग रहे लोगों से, किसको खतरा होता है।' सांप्रदायिकता, जातिवाद, आदमी-आदमी के भेदभाव की राजनीति को बखूबी जानते हैं। बल्ली कहते हैं—'ये छुरा, किरपाण, ये त्रिशूल भी रखिए मगर, इनकी खातिर देश की पहचान से मत खेलिए।' तथा-'हादसे इस गाँव भी हमको लड़ाने आ गए। घर बचाने के बहाने घर जलाने आ गए।'

१६७० के बाद हिन्दी में कविता, गीत गज़लों आदि की जो एक बिलकुल नई धारा आई बल्ली उसके प्रतिनिधि के रूप में उत्तर प्रदेश से हमारे साथ खड़े हैं। इस धारा ने, जिसे नक्सलबाड़ी के किसान आंदोलन से उपजी सांस्कृतिक धारा के रूप में देखा जाना चाहिए, कविता के पुराने तमाम मानदंड, कथ्य, रूपक और अलंकार बदल दिए, कविता सर्व साधारण की हो गई। कविता वस्तुतः उपजती तो लोक से ही रही किन्तु वह कभी लोक को मिली नहीं। इस धारा ने कविता को लोक जीवन के बीच लाकर खड़ा करने का प्रयास किया। जाहिर है इस काम में बहुत अनगढ़ता और रूखड़ापन होता था। इसे हिन्दी के पुराने कलेवकर का न तो पाठक, न समीक्षक, न कवि ही हठात् आत्मसात् कर पाये। भोजपुर, पश्चिम बंगाल, आंध्र प्रदेश के गांवों में हजारों की संख्या में ऐसी रचनाएँ आईं जो काम के दौरान रची गईं और जीवन का नया संदेश

लेकर आईं इसीलिए बार-बार सूरज और लाल सूरज का प्रतीक आया। इस तरह काम के दौरान कविता की एक परम्परा का ही विकास शुरू हो गया।

मनुष्य को उसकी आजादी अच्छी लगती है, यह आजादी उसे चाहिए, यह जीवन को संपूर्णता में लाने की आजादी है, बेहतर और मानवोचित समाज बनाने की आजादी है। इसके आगे-पीछे के सभी आयाम बल्ली के सामने-सामने स्पष्ट हैं और यह स्पष्टता, कहना नहीं चाहिये उन्हें बिहार और आंध्र के गत-संघर्षों तथा सांस्कृतिक संघर्षों से ही प्राप्त हुई तभी उन्होंने लिखा—'संघर्ष कर करा है सचमुच बिहार देख। सब कुछ बदल रहा है चश्मा उतार देख।'

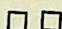
यह काव्य धारा चूँकि आम जनता के बीच आई है इसलिए और परिवर्तन की नई दिशा लेकर आई है इसलिए इन कविताओं में कई जगह ऐसा लगता है जैसे वहाँ बयानबाजी हो रही है, कुछ सिद्धान्तों को रखा जा रहा है और चीजों को बढ़-चढ़ कर भी पेश किया जा रहा है। हिन्दी कविता में परिवर्तन की जो धारा १९७० के बाद आई उस पर यह आरोप भी लगता रहा है। इस आरोप के सकारात्मक और निषेधात्मक दोनों ही टोन दिखाई देते हैं। जो कविता या संस्कृति की इस नई धारा की जरूरत महसूस करते हैं वे जब कहते हैं कि इन कविताओं में विचार और परिवर्तन की लहर तो आनी ही चाहिए पर उसमें काव्यात्मकता या उसका कला पक्ष भी मजबूत होना चाहिए। इस आलोचना को हम सकारात्मक तथा आलोचना का सही रूप मानते हैं क्योंकि आलोचना को हम निर्माण की ही दिशा में देखते हैं। लेकिन हिन्दी में ऐसे आलोचकों की कमी नहीं है जो १९७० के बाद की साहित्यिक, सांस्कृतिक धारा को बिल्कुल ही खारिज करते हैं। इस तरह की आलोचना को साहित्य का सही पाठक खारिज करता है।

बल्ली के इस संग्रह में इसीलिए इस तरह की कुछ कविताएँ हैं जिनसे लगता है कि ये बयानबाज़ी, सपाटबयानी, एक खास विचार धारा को प्रचारित करने के उद्देश्यों के निकट हैं। लेकिन संस्कृति और साहित्य में जब करवट की स्थिति आती है तो इस तरह की स्थिति बन जाती है वर्ना निराला की अनेक कविताओं को तत्कालीन कवि, आलोचक, संपादक रिजेक्ट नहीं कर देते। इसीलिए बल्ली के इस संग्रह में उस तरह की कुछ कविताएँ बड़े स्वाभाविक ढंग से आई हैं और इस तरह इशारा करती हैं कि आज संस्कृति कर्म के सामने यह चुनौती भी है कि वह किस प्रकार आधुनिक समाज के परिवर्तनों को अपने में समेटते हुए कला का एक रूप प्रस्तुत करे।

बल्ली इस बात को जानते हैं कि—'कुछ असर होगा नहीं मैं जानता हूँ पर, हर गिला अब उनके कानों तक पहुँचता है।' इस अभियान को और आगे बढ़ाने

के लिए वे आगे बढ़ते हैं। उनको मालूम है कि संस्कृति की इस विशाल दुनिया में हम सब कुछ जनता से ही ग्रहण करते हैं—कला, ऊर्जा, जीवन, संगीत, परिवर्तन की आकांक्षा, नई राह आदि और सब कुछ को एक नई दिशा, नया आलोक, नया संस्कार देकर हम उन्हें ही कला के रूप में लौटा देते हैं ताकि विज्ञान की निरतंर बढ़ती दुनिया में संस्कृति का बेहतर रूपांतर उनके पास पहुँचे और वे समता के समाज के लिए अपना प्रयास शुरू करें क्योंकि नियामक तो वे ही हैं। इसीलिए चीमा कहते हैं—'तुम्हारी कहानी, तुम्हीं को सुनाने मैं आया हूँ लेकर ये गजलें-तराने।' जनता को बहुत-सी बातें इस समाज संरचना में नहीं मालूम हो पातीं। दिशाभ्रम की-सी स्थिति बनी रहती है बावजूद इसके कि उसी के पास सब कुछ होता है लेकिन उसकी चेतना तो वहाँ ले ही जानी पड़ती है। यह काम एक कवि या संस्कृतिकर्मी ही करता है।

बल्ली के इस संग्रह पर थोड़ी-सी बातचीत के बाद हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि हिन्दी में जो बिलकुल नई काव्य धारा है उसके स्रोत और उसकी जगह मिट्टी ही है, वहीं से परिवर्तन की आंधी चलेगी, नए समाज निर्माण के लिए नया नायक वहीं से उठेगा। इस परंपरा को आज पकड़ने, समझने और विकसित करने की जरूरत है।



अंकुर : कहानी

श्यामली

□ प्रमोद कुमार सिन्हा

रधिया, अभी तक नहीं आयी। शांति के हाव-भाव से बेचैनी झलक रही थी। पास उसके कोई न था पर बड़बड़ायी जा रही थी : कभी तो ऐसा न हुआ। न जाने कहाँ रह गयी ? पांडेजी की गाय के साथ ही तो आया-जाया करती है। उनकी तो बहुत पहले आ गयी। अब तक तो उसका दूध भी दुहा गया होगा। फिर ये कहाँ की घास चर रही है ? पता भी तो नहीं चलता किधर गयी है ? किसे भेजूँ, पता चलाने ? लालमुनी भी नहीं है। एक वही तो था बेचारा, जो आड़े वक्त काम आया करता था। और न ही सोमू के पापा ही अब तक आये हैं। सोमू या मनोज को भेजना ठीक नहीं रहेगा। रात का मामला है। श्यामली को भेज सकती ही नहीं हूँ। बच गयी तो एक मैं। परन्तु, मेरा घर अकेला छोड़कर जाना भी मुश्किल है। श्यामली जवान जो ठहरी।

पुकारती—श्यामली ! श्यामली !....।

बिसेशर ने घर कदम रखते ही कहा—क्यों गला फाड़कर चिल्ला रही हो ?

मैं चिल्ला रही हूँ न, अब तुम भी चिल्लाओ। रधिया....। रधिया....।

क्या हुआ, रधिया को ?

अभी तक नहीं आयी है। दीनू, महेशजी, अवध सबों से पता की। किसी ने नहीं देखा। अवध तो ढूंढ़ने भी गया था पर रहे तब न मिले। मुझे तो बहुत चिन्ता हो रही है। जाओ जरा जाके ढूंढ लाओ।

चिन्ता के अलावा तुम कर भी क्या सकती हो ? जा तो सकती नहीं। बस भाषण देने के अलावा आता ही क्या है ? और तुम्हे चिंता करने की भी जरूरत नहीं। रधिया स्वयं आ जायेगी। जाओ चाय बना लाओ।

आपको क्या है ? रधिया आये न आये। चाय समय पर मिल जानी चाहिये। यह नहीं हुआ कि देख आवें। शायद रास्ता ही भटक गयी हो। यह भी तो हो सकता है कि किसी ने अपने घूंटे से बाँध लिया हो।

सब तुम्हारे जैसे नहीं होते, कि अपने घूंटे से बाँध ले। गाय तो गाय, पति भी। बिसेशर ने कहा।

जो भी हो। मैं तो यही कहूँगी समय ठीक नहीं चल रहा है। वरना क्या, श्यामली अब तक कुंआरी ही रहती ? कहती हूँ कि उसकी पढ़ाई बन्द करवा

दो। तो मानते ही नहीं। अभी तक दस ही माँगा गया है न। अब तो पन्द्रह हजार से नीचे वाले रिस्ते भी नहीं मिलेंगे। पढ़ाए जाओ। बैरिस्टर बनकर जिन्दगी भर तुम्हारी सेवा जो करेगी।

देखो, अब शांत भी रहो। बात कहीं से भी शुरू हो, खत्म श्यामली पर ही होगी। आखिर क्या चाहती हो ? क्या श्यामली ऐसे घर जाए, जहाँ सुख की छाँव भी नसीब न हो ? और फिर भार भी तो है मुझ पर न। मुझसे जैसे बन पड़ेगा, मैं करूँगा। उसके लिए पढ़ाई बन्द करवा दी जाय। यह कोई जरूरी नहीं। तुमसे तो अच्छी सौतेली माँ ही होती है। देखो, वो देखो। रधिया चली आ रही है। मैं कहता था न, अपनी रधिया वैसी नहीं है।

बिसेशर जब ज्यादा खुश होता तो बेवक्त बच्चों से पढ़ाई के विषय में पूछा करता। रधिया के आने के बाद भी ऐसा ही हुआ। शिकायत तो उसे पढ़ाई से कभी न मिली थी। उसके बच्चे थे भी होनहार। वे तीनों वर्ग में प्रथम आते थे। इस कारण दफ्तर में उसकी इज्जत किसी बड़े बाबू से कम न होती थी। वैसे भी वह बड़े अधिकारी का किरानी था। किरानी की पूँछ दफ्तरों की सीढ़ियाँ होती हैं—इस बात को भली-भाँति जानता था बिसेशर। परन्तु किसी कीमत पर वह बिक नहीं सकता था। इसी कारण तो उसके साहब उसकी बहुत बड़ाई किया करते थे।

ऐसा न था कि श्रीमान् भारद्वाज दूध के धोये थे। उनका काम भी वैसा ही चलता जो अन्य सफेद पोश अधिकारियों के थे। अन्तर तो मात्र इतना था कि बिसेशर की ईमानदारी भारद्वाज के सफेद लबादे पर चमक लाया करती। कोई उनकी चाल को भाँप भी न पाता। बिसेशर खुद भी अनभिज्ञ था। उसकी नजरों में तो भारद्वाज महापुरुष ही थे। वह सबों से कहा करता—'आज भारद्वाज साहब न होते तो मेरे बच्चे गँवार ही रहते। आज रधिया न खरीद कर दी होती, तो क्या अपनी गृहस्थी चल पाती ?

कुछेक लोगों ने कानाफूसी भी की। कहीं यह गाय घूस के पैसे की तो नहीं ? परन्तु बिसेशर था कि तुरन्त जवाब दे देता। 'अरे नहीं साहब ! आप लोगों को तो ईमानदार व्यक्ति की भी पहचान नहीं। मैं क्या बताऊँ ? मेरी तो आँखों देखी बात है। एक बार साहब से किसी ने लेने-देने की पेशकश की थी तो जानते हो साहब ने तुरन्त मुझे हुक्म दिया। इसे पकड़कर तब तक रखो, जब तक पुलिस नहीं आ जाती और फिर आप सब तो जानते ही हैं। उस दिन पुलिस आयी थी।' इतना कहकर ही बिसेशर शान्त होता।

उसे तो शांति की बात पर भी विश्वास न होता। वह कहा करती—देखोजी, तुम निरे बुद्धू हो। यह 'रधिया' साहब ने यों ही नहीं दी बल्कि तुम्हें चुप रहने की कीमत अदा की है। वो तो चालाक ही ठहरे जो रोज एक सेर

दूध भी लेते हैं। मेरा कहा मानो तो एक बार फिर दो हजार रुपये की माँग करो। देखना पहले टाल-मटोल करेंगे। फिर मिल ही जायेगा।

श्यामली के लिए अच्छा रिस्ता मिल गया था। वे लोग इसी शहर के रहने वाले थे। दहेज वगैरह कुछ नहीं चाहिए। जो देने की इच्छा हो, बस दे दो। भला इससे अच्छा रिस्ता कहाँ मिलता? फिर भी उसने अपनी सामर्थ्य के अनुरूप देने की सोच रखी थी। जो कुछ घटेगा, साहब से कर्ज लेकर पूरा कर दूँगा।

क्यों दूध देने नहीं जाओगे? बस बैठे-बैठे बीड़ी पिये जा रहे हो—शांति ने कहा।

शांति अगर याद न दिलायी होती तो न जाने कब तक बिसेशर विचारों से उलझता रहता। वह दूध ले साहब के बँगले चल दिया। बिसेशर भारद्वाज के बँगले दूध रखकर सीधे दफ्तर जाता। तब जाकर ही मि० भारद्वाज घर आते थे। आज तो बहुत देर हो गयी। साहब नाराज होगें उतनी फाइलें खुद उठाकर लाये होंगे, विचारता हुआ जब बँगले पहुँचा तो मेम साहब उसे देखते ही बरस पड़ीं। लाट साहब बन गए हैं। कहाँ थे अब तक? साहब तीन बार फोन कर चुके हैं।

बिसेशर सफाई में अपनी कहने ही वाला था कि झड़प मिली—अब खड़े-खड़े मुँह क्या देख रहे हो। जाओ जल्दी—साहब इन्तजार कर रहे होगें।

बिसेशर चुपचाप चला गया। उसने मेम साहब की बात का कभी बुरा नहीं माना। बड़ी बहन जो मानता था।

भारद्वाज के ही दफ्तर मात्र खुले थे। बिसेशर के पहुँचते ही भारद्वाज के चैम्बर से एक अधेड़-सा व्यक्ति निकला। उसे देखकर बिसेशर अचम्भित रह गया। वह वही तो था जिसने बिसेशर की ईमानदारी खरीदने की कोशिश की थी। भीतर प्रवेश करते ही डाँट पड़ी। बिसेशर ने अपनी सफाई दी। फिर चैम्बर बन्द कर दोनों बँगले की ओर चल दिए। भारद्वाज ने आगे से देर न करने की चेतावनी भी दी।

बिसेशर फाइलें हाथों में उठा मिस्टर भारद्वाज के पीछे-पीछे चल रहा था। अचानक फाइलें नीचे गिर गयीं और सौ-सौ के बंडल जमीन पर बिखरे दिखे। भारद्वाज के चेहरे के भाव ऐसे हो गये मानो अपने से बड़े अधिकारी के सामने चोरी पकड़ी गयी हो। रुपये बटोर लिए गये। भारद्वाज ने उत्तेजना को लगभग काबू करते हुए कहा था—लाओ मुझे दो कुछ फाइलें। मैं देख रहा हूँ, आजकल तुमसे काम भी नहीं होते। फिर थोड़ा रुककर कहा था—जानते हो ये पैसे जमा करने के लिए वर्मा को दिया था। बैंक बन्द हो गया, सो वर्मा लौटाने आया था। कल तुम इसे जमा कर आना।

बिसेशर इस बात से और भी उलझ गया। उसे अच्छी तरह याद था। साहब खुद कहते थे—तुम्हारे अलावा कौन है बिसेशर ? जो मेरा पैसा जमा करे। परन्तु उसके दिमाग में शांति की कही बातें याद आ रही थीं। साहब से कर्ज लेने के लिए सोचा तो पहले से ही था। बँगले पर पहुँचते ही पैसे की माँग कर दी। उसका दिल चाह रहा था—साहब उसे डाँट-फटकार कर पैसे न दें। शांति की धारणा गलत साबित हो, परन्तु हुआ वैसा ही, जैसा शांति ने कहा था। आज पैसा लेते वक्त बिसेशर के चेहरे पर कृतज्ञता के भाव न थे। भारद्वाज ने पूरे दो हजार देते हुए कहा था—मैं देख रहा हूँ, तुम्हारी आवश्यकता बढ़ती ही जा रही है और चालाक भी हो गए हो। मेम साहब से पूरा हिसाब कर लेना, वरना मकान गिरवी रह जायेगा।

बिसेशर का विश्वास उस कागज की नाव की तरह था जो तालाब के किनारे ही रहती। अब उसकी नजरों में मिस्टर भारद्वाज का कहीं स्थान न था वह अपने को धोखा खाये प्रेमी की भाँति समझ रहा था।

घर पहुँचकर उसने सारे क्रियाकलाप एक साँस में ही शांति से कह डाले। उसने बात जारी रखी। जी में आया, पैसे लौटा दूँ। पर उससे क्या होगा ? रधिया और पहले के दो हजार कहाँ से दे पाऊँगा ? तुम ठीक ही कहती थी मैं निरा मूर्ख हूँ। अब तुम ही बताओ शांति—ऐसे में मैं कैसे नौकरी कर पाऊँगा ?

तुम लड़के वाले के पास गए थे न। क्या कहा उन्होंने ? क्या बिल्कुल ही रुपये-पैसे न लेंगे ? ऐसा तो सपने में भी न सोची थी। हो न हो, जरूर कोई और बात होगी। कहो न क्या बात है—शांति ने पूछा।

मैं अभी उधर से भी होता आ रहा हूँ। इच्छा तो जाने को नहीं हो रही थी परन्तु किसी तरह चला गया। तुम ठीक ही सोचा करती हो शांति।

जानती हो लड़के के पिता ने मुझसे क्या कहा—'मनोहर का अगले महीने कलकत्ते में जो इन्टरव्यू है उसमें बोर्ड के सदस्य भारद्वाज साहब भी रहेंगे। मैंने यह पता लगा लिया है। आप तो भारद्वाज साहब के खास आदमी हैं। आप उनको मनोहर के बारे में बता दें तो आपके होने वाले दामाद की नौकरी भी पक्की ही समझें। फिर श्यामली तो राज ही करेगी न।'

शांति ने कहा—'ठीक ही तो वे कहते हैं। बस, तुम कल ही साहब को मनोहरजी के बारे में ठीक से बता दो। मेम साहब से भी जरूर कहना। आखिर दुनिया ऐसे ही चल रही है, फिर तुम इतने मूर्ख थोड़े ही हो। कुछ तो करना ही पड़ता है।'

सारी रात बिसेशर सो न सका। वह पूरी रात बड़बड़ाता रहा था। भारद्वाज का कभी भला न होगा। बेईमानी की कमाई कभी फलती नहीं। उसने मेरे विश्वास का गला घोंटा है। पहले जाना होता तो रधिया न ली

होती । न ही पैसे माँगे होते । मैं सब कुछ भारद्वाज को लौटा दूँगा । श्यामली की शादी वैसे घर नहीं करनी, जहाँ ऐसे लोग रहते हैं । मैं अपने को ही खत्म कर लूँ तो ज्यादा अच्छा है । न रहूँगा, न यह सब देखूँगा । मरूँगा तो किसी के लिए कुछ करके ही जाऊँगा । दफ़्तर में मरना ही ठीक रहेगा । बस आत्महत्या न दिखेगी । श्यामली को नौकरी भी मिल जायेगी । दफ़्तर का कोई कुंवारा देर-सबेर उसका हो ही जायेगा । रिटायरमेंट का सारा पैसा सोमू व मनोज की पढ़ाई में लग जायेगा । फिर धीरे-धीरे सब सामान्य हो जायेगा ।

फिर सोचता कौन जानता है ? मेरे मरने पर श्यामली को नौकरी मिल ही जायेगी । श्यामली के होने वाले पति शांति और सोमू-मनोज की देखभाल करेंगे या नहीं कौन जाने ।

उत्तेजना में उसके स्वर तेज हो गये थे । जिससे शांति की नींद खुल चुकी थी । वह पूछती—क्या कर रहे हो ? क्या अब तक नहीं सोये ।

मैं सोच रहा था शांति, कि कल साहब को पैसे लौटा आऊँ ।

क्यों ? क्या मुसीबत आ पड़ी कि आज लाये और कल ही लौटा दोगे । शांति ने लगभग उठते हुए कहा ।

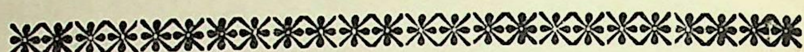
तुम नहीं समझी । मनोहर के बारे में साहब से कहना जो है । साहब सोचेंगे—रोज कुछ न कुछ । इससे अच्छा यह न रहेगा कि पैसे लौटा दूँ तो—विश्वास का विश्वास मनोहर का काम भी हो जायेगा । बिसेशर की चेतना जाग गयी थी ।

तुम तो दूर की सोचते हो जी । मैं तुम्हें निरा बुद्धू ही समझी थी । लाओ सर दबा दूँ—तुम थके से लग रहे हो । अब सो जाओ ।

बिसेशर को शांति का यह बदला स्वभाव अच्छा लगा लेकिन जी में आया झकझोर कर पूछे—क्या ईमानदारी बुद्धूपन का पर्याय हो गया है । परन्तु ऐसा नहीं कह पाया था वह । न जाने कब उसकी आँखें लग गयीं ।

दूसरे दिन, सबेरा गहराते ही बिसेशर नोटों की गड्डी लिए मि० भारद्वाज के बंगले की ओर चल पड़ा ।

□□





सहयोगी रचनाकार

- पलाश विश्वास : द्वारा, एस० के० मोदक, सी-27, आमराबाती, सोदपुर एन-24 परगना, प० बंगाल
- नरेन्द्र पुण्डरीक : छानी तालाब, बाँदा (उ० प्र०)
- इन्द्रदेव चौधरी : शिवगंज, डिहरी-ऑन-सोन 821307
- डॉ० उज्ज्वल कुमार : एल-92/2, बैंक स्टेट, मुनिरका, नई दिल्ली
- अरविन्द कुमार : लाला इन्दु भूषण का मकान, नवाबबाग कॉलोनी, भागलपुर
- अनिल सिन्हा : 3/30 पत्रकारपुरम, गोमती नगर, लखनऊ
- डॉ० अवधेश प्रधान : बी-32/20 ई०, साकेत नगर, वाराणसी 221005
- डॉ० कृष्णचन्द्र लाल : सं० सहचर, गोरखपुर वि० वि०, गोरखपुर
- प्रमोद कुमार सिन्हा : द्वारा, श्री रामसेवक प्रसाद सिन्हा E/1 B, आद्रा, जि० पुरुलिया (पं० बंगाल)

पत्रिकाएँ

आमुख : सं० कंचन कुमार, 114-हनुमान नगर, सी टाइप क्वार्टर्स, नई दिल्ली
पुरुष : सं० विजयकान्त, निराला नगर, गोशाला रोड, मुजफ्फरपुर-842 002
कालबोध : सं० परशुराम, पंचदेव, 140/1 रामकृष्णपुर लेन, शिवपुर हावड़ा
लोकयुद्ध : सं० रामजतन शर्मा, आजाद मार्केट, पीर मुहानी, पटना (बिहार)
कतार : बी० बी० शर्मा, प्रोफेसर्स कालोनी, चीरा गोड़ा, धनबाद (बिहार)
पहल : ज्ञानरंजन, 101, रामनगर, आधारताल, जबलपुर (म० प्र०)
साम्य : विजय गुप्त, शीतला वार्ड, ब्रह्मपत्र, अम्बिकापुर (म० प्र०)
वसुधा : भगवत रावत, 129 अराधरा नगर, कोटरा, भोपाल (म० प्र०)
ओर : विजेन्द्र, C-133, वैशाली नगर, जयपुर (राजस्थान)
अभिव्यक्ति : शिवराम 4 P46 तलवंडी, कोटा (राजस्थान)
अब : शंकर, अभय 74E गोरक्षिणी पथ, सासाराम (बिहार)
जतन : तारा पांचाल, प्रोफेसर्स कालोनी, बाई पास रोड, कुरुक्षेत्र-132 118
सम्बोधन : कमर मेवाड़ी, चांदमोल, कांकरोली-313 324, (राजस्थान)
मधुमाधवी : नलिनी उपाध्याय, डी/22, शान्ति पथ, तिलक नगर, जयपुर-4
कथानक : सुनील कौशिक, कैलाशचन्द्र शर्मा, के० 74, यशोदा नगर, कानपुर
सामयिक परिदृश्य : विमल वर्मा, एच-13, एल० आई० जी० इस्टेट
8/1, आर० पी० रोड, काशीपुर, कलकत्ता-700 002
विषयवस्तु : धर्मेन्द्र गुप्त, 274, राजधानी एन्क्लेव, शकूर बस्ती, दिल्ली-34
इतिहास-बोध : लालबहादुर वर्मा, 23/47, 55 एस किदवई नगर, इलाहाबाद
समकालीन तीसरी दुनिया : आनन्द स्वरूप वर्मा, 14, सुविधा बाजार,
सरोजनी नगर, नई दिल्ली 110 023
मुहिम : चन्द्र किशोर जायसवाल, पूर्णिया पालिटेकनिक, पूर्णिया ((बिहार)
दस्तक : रावत आलोक, किशोरी भवन, परसुडीह, जमशेदपुर (बिहार)
आवर्त्त : वीरेशचन्द्र, [illegible] रोड, रसूलपुर जिलानी, मुजफ्फरपुर
ऋतुगंध : अशोक गुप्त, किशोर प्रभात प्रकाशन, राजेन्द्रपुरी, मुजफ्फरपुर
प्रसंग : शंभु बादल, सरौनी खुर्द, जगन्नाथ धाम, हजारीबाग
आम आदमी : रमणिका गुप्ता, मेन रोड, हजारीबाग
समकालीन परिभाषा : ऋषिकेश, शंकर चौक, डुमरा, सीतामढ़ी
नयी रचना : मदन मोहन, 32 रोडर्स धर्मशाला क्वार्टर्स, गोरखपुर
नयी आलोचना : विनोद कुमार शुक्ल, 185 नया बैरहना, इलाहाबाद
कथ्य रूप : अनिल श्रीवास्तव, डो० 224, तुलाराम बाग, इलाहाबाद
दस्तावेज : विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, बेतियाहाता, गोरखपुर
निष्कर्ष : गिरीशचन्द्र श्रीवास्तव, 59, खैराबाद, दरियापुर, मुलतानपुर
आवेग : प्रसन्न ओझा, 4 नजरबाग, बैंक कालोनी, रतलाम
परिवेश : कुमार संभव, शक्ति नगर, चंदौसी, मुरादाबाद